सामयिक वार्ता
जनवरी 2016 ❐ मूल्य : 20 रुपए

धार्मिक राष्ट्रीयता बनाम आर्थिक राष्ट्रवाद

- ☐ भारतीयता का भविष्य
- ☐ 'स्मार्ट' भी क्या नगर की पहचान होती है ?
- ☐ भाषायी स्वतंत्रता का शंखनाद
- ☐ 'भीम यात्रा'
- ☐ छात्र राजनीति की सम्भावना
- ☐ जनेवि में राजकीय दमन

राजेन्द्र राजन की दो कविताएँ

महानता का मार्ग

जब उन्हें नहीं सूझ रहा था कोई जवाब
उन्होंने ढूंढ़ लिया आखिरकार
असल सवालों से बचने का तरीका नायाब

देश के इस कोने से उस कोने तक
वे उठाएंगे ऐसा शोर
कि जन से जुड़ी तमाम आवाजें अनसुनी हो जाएं
न्याय की तमाम लड़ाइयां हो जाएं बेकार

वे देशभक्ति को बना देंगे एक सियासी कारोबार
जिस पर हो उनका एकाधिकार

अगर तुम उनसे असहमत हो
और आवाज उठाने की हिम्मत भी दिखाते हो
तो वे कहेंगे देश की आलोचना बर्दाश्त नहीं की जाएगी
मानो देश का मतलब सिर्फ एक पार्टी
सिर्फ एक सरकार
सिर्फ उनके विचार
देश का मतलब देश के सब लोग नहीं

यह देशभक्ति की कैसी परिभाषा है
जो देश के लिए कुछ करने के जज्बे से नहीं
कुछ न कर पाने की ग्लानि से नहीं
बस इस दंभ से भरी है
कि जो हमारे साथ हैं देशभक्त हैं
बाकी सब गद्दार

यह देशभक्ति की कैसी परिभाषा है
जिसमें सारे कुकर्म हो जाते हैं माफ
मारा जाता है इंसाफ

यह देशभक्ति की कैसी परिभाषा है
जो किसी को उन्माद से
और किसी को दहशत से भर देती है

मगर वे कहते हैं
यही है महानता का मार्ग।

सत्य की तलवारें

उन्हें कभी संदेह नहीं व्यापता
कभी दुविधा नहीं होती असमंजस नहीं घेरता
वे सत्य जान गए हैं
सत्य लिखा है उनकी पोथियों में
वे सत्य के लिए संगठित हैं
वे सत्य की तलवारें लिये घूम रहे हैं
वे गरदनें उतार देंगे
अगर तुम्हारे मुंह में
उनके सत्य के सिवा कुछ और हुआ तो।

सामयिक वार्ता

जनवरी 2016, वर्ष 39 अंक 5-6

संस्थापक संपादक : किशन पटनायक
संपादक मंडल
सच्चिदानंद सिन्हा (अध्यक्ष)
कमल बनर्जी, अफलातून, संजय भारती, बाबा मायाराम, चंचल मुखर्जी (संयोजक)
संपादन सहयोग
लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, प्रियदर्शन
अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन
अरुण कुमार त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव
महेश विक्रम सिंह
प्रबन्ध सहयोग : नीता चौबे
परामर्श मंडल
योगेन्द्र यादव, स्मिता, कश्मीर उप्पल
अक्षर संयोजन : गौरीशंकर सिंह

आवरण चित्र : लोहिया की पुस्तक 'भारत-विभाजन के अपराधी' के आवरण के लिए मकबूल फिदा हुसैन के चित्र पर आधारित

खाता नाम - सामयिक वार्ता
या Samayik Varta
बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)
शाखा - सोनारपुरा, वाराणसी
Sonarpura, Varanasi (U.P.)
खाता संख्या **40170100005458**
IFSC Code : BARB0SONARP
(यहाँ दूसरे B के बाद जीरो है, ओ नहीं S के बाद O (ओ) है।)
MICR CODE : 221012030
इस खाते में पैसा जमा करने तथा ग्राहक के पते की सूचना इ-मेल अथवा मोबाइल-08765811730/ 08004085923

कार्यालय
डी. 28/160, पाण्डे हवेली, वाराणसी-221001
फोन : 08004085923 (संपादन),
08765811730 (प्रबंध)
e-mail- varta3@gmail.com

इस अंक में

2 राष्ट्र को गौण करने वाली राष्ट्रीयता

3 बजट : कितना गरीब हितैषी?
प्रो. अरुण कुमार

8 भीम यात्रा : ताकि अब हत्याओं पर रोक लगे
सुभाष गाताड़े

13 'स्मार्ट' भी क्या नगर की पहचान होती है?
दुनु रॉय

19 मेरी भारतीयता मेरी पहचान
प्रियदर्शन

26 छात्र राजनीति की सम्भावना
अनूप

30 धार्मिक राष्ट्रीयता बनाम आर्थिक राष्ट्रवाद
किशन पटनायक

35 भारतीयता का भविष्य
सच्चिदानन्द सिन्हा

41 लोकतंत्र, समाजवाद और स्वराज
महेश विक्रम

46 भाषायी स्वतंत्रता का शंखनाद
यदुनाथ चौबे

द्रोह का दायित्व
मो.क. गाँधी

सदस्यता शुल्क : एक प्रति : 20/-, वार्षिक शुल्क : 150/-, संस्थागत वार्षिक शुल्क : 200/-
पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-, आजीवन शुल्क : 2000/-

सम्पादकीय

राष्ट्र को गौण करने वाली राष्ट्रीयता

'काश्मीर माँगोगे तो चीर देंगे' को अपने राष्ट्रवाद का नारा मानने वाले समूह ने कश्मीर को चीरने की दिशा में राजनीतिक पहल कर दी है। लद्दाख स्वायत्त पर्वतीय विकास परिषद के चुनाव में लद्दाख को जम्मू काश्मीर से पृथक, अलग केन्द्र शासित राज्य बनाने के मुद्दे को उछाल कर भारतीय जनता पार्टी को 26 में से 18 सीटें मिली हैं। उत्तर बंग में कूच बिहार के पूर्व रजवाड़े को अलग राज्य बनाने की माँग को हवा देकर विधान सभा चुनाव में भाजपा को अच्छे वोट मिल गए। कूच बिहार स्टेट का पुराना राजशाही झंडा लेकर इस इलाके के लोगों ने दिल्ली में नरेन्द्र मोदी और सरदार पटेल के चित्र वाले बैनर के साथ कई दिनों तक उपवास-प्रदर्शन किया था। इसी प्रकार गोरखालैंड अलग राज्य के समर्थक गोरखा जन मुक्ति मोर्चा के साथ भाजपा का चुनावी तालमेल था। आश्चर्यजनक तो यह भी था कि माकपा के कुछ नेताओं ने भी दार्जिलिंग इलाके में तृणमूल कांग्रेस के खिलाफ इस मोर्चे का गत विधानसभा चुनाव में समर्थन देने की अपील कर दी थी। भाजपा के जसवंत सिंह तथा बाद अहलूवालिया इसी मोर्चे के समर्थन में लोकसभा में जीतते आए हैं।

असम में भाजपा की पहली बार मिली सफलता में बोडो लिबरेशन टाइगर फोर्स के संस्थापक हंग्रामा मोहिलारी से गठबंधन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। किसी समय केन्द्र सरकार की अतिवादियों की सूची में उनका नाम था। चुनाव बाद के विश्लेषण के अनुसार हिन्दू मतदाताओं का ध्रुवीकरण और मुस्लिम मतों का बिखराव इसकी मुख्य वजह थी।

तृणमूल कांग्रेस को परास्त करने के उद्देश्य से वाममोर्चा ने पहली बार कांग्रेस से चुनावी तालमेल और संयुक्त प्रचार अभियान चलाया। 'किसान का बेटा किसान क्यों बने' कहने वाले माकपा नेता बुद्धदेव भट्टाचार्य ने नन्दीग्राम और सिंगूर किस्म के औद्योगीकरण को फिर से मौका देने का आह्वान किया। जनता ने कांग्रेस-वाम युति को अस्वीकार कर दिया। वाम मोर्चा के इस रवैए ने साबित कर दिया कि अब वे कांग्रेस-भाजपा की विकास नीति को स्वीकार कर चुके हैं। उनके आन्दोलन सफेद कॉलर वाले कर्मचारियों के हितों तक सीमित हो चुके हैं। वर्ग संघर्ष अथवा सर्वहारा के संघर्ष के कमजोर पड़ जाने के कारण गलत चिह्नों से भाजपा को राष्ट्रीयता को जोड़ने का मौका मिल गया है। अंग्रेजों के विरुद्ध चले राष्ट्रीय आन्दोलन राष्ट्रीयता के आदर्श के रूप में धर्म निरपेक्ष दल याद करते हैं। परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के साम्राज्यवादी विरोधी स्वरूप से मुख्यधारा का राजनीति कत्तई सबक नहीं लेना चाहती है। नवऔपनिवेशिक आर्थिक नीतियों के समर्थक (सभी मुख्यधारा के दल) हो गए हैं।

प्रगतिशील बुद्धिजीवियों तथा दलों ने राष्ट्रीयता की अवधारणा को समझने में हमेशा अनदेखी की है। इसके फलस्वरूप राष्ट्रवाद का विकृत स्वरूप मजबूत हुआ है। देश के संघीय (आर.एस.एस. नहीं) ढाँचे में मजबूत केन्द्र का सिद्धान्त सभी प्रमुख दल मानने लगे हैं। यह देश को कमजोर करने वाली बात है।

'सामयिक वार्ता' से जुड़े दो प्रमुख चिन्तकों ने राष्ट्रीयता और उसके आधार को समझने के लिए स्पष्ट तौर पर विचार प्रस्तुत किए हैं। साथी किशन पटनायक एवं साथी सच्चिदानंद सिन्हा के लेख इस अंक में दिए जा रहे हैं।

किशन पटनायक का विचार था कि भाषा, अर्थ, धर्म, राजनीति जैसी कुछ चीजें स्वाभाविक रूप से महत्वपूर्ण होती हैं, इनमें से किसी को भी बड़ा-छोटा या कमजोर मानकर नहीं आँकना चाहिए। हम इन्हें बराबर समझने से कतराते हैं।

1984-85 के दौर में स्वर्ण मंदिर में सैनिक कार्रवाई इंदिरा गाँधी की हत्या तथा उसके बाद हुए लोकसभा निर्वाचन में एक छोटे समुदाय को गद्दार ठहरा कर जो उन्माद देखने में आया था उस प्रकार का माहौल गत कुछ महीनों में तैयार करने की कोशिश हुई है। साम्प्रदायिकता का सबसे बड़ा खतरा उन तानाशाह सरकारों से होता है जो अपने अधीन असहमति की हर आवाज को दबाने की कोशिश करती हैं। सच्चिदानंद सिन्हा, जसवीर सिंह, सुनील और जी.के.सी. रेड्डी ने 1985 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'पंजाब : सैनिक कार्रवाई असलियत क्या है?' में

इस स्थिति को तात्विक रूप से समझाया है— 'यह खतरा दो प्रकार से पैदा होता है। पहला, जब सरकार, अल्पसंख्यकों को बलि का बकरा बनाने लगती है और उन्हें अपनी असफलताओं का जिम्मेवार ठहराती है। दूसरा, जब तानाशाह सरकार लोगों के जीवन के हर क्षेत्र में अपना नियंत्रण बढ़ाने लगती है। तो धर्म राजनैतिक रूप से महत्वपूर्ण होने लगता है। तानाशाही सत्ता की पूरी कोशिश होती है कि उसके सिवा सत्ता और अधिकार का कोई केन्द्र न हो। इसलिए वह ऐसे सभी केन्द्रों को या तो नष्ट कर देती है या अपने अधीन कर लेती है। उदाहरण के लिए शिक्षा संस्थाओं को लें। इन्हें सामान्यतः ज्ञानार्जन का स्वतंत्र और निष्पक्ष केन्द्र माना जाता है। लेकिन तानाशाह सरकार इन्हें राज्य के नियंत्रण में ले लेते है और ऐसी शिक्षा देने के लिए मजबूर करती है जो तानाशाह सरकार के मकसद पूरे करे। कला, साहित्य, अखबार और अन्य प्रचार माध्यमों को इसी प्रकार सत्ताधीशों के मुताबिक चलने के लिए मजबूर किया जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों से रिश्ता टूट जाता है। संचार माध्यमों और शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण हो जाने से व्यक्तियों के बीच स्वतंत्र संवाद खत्म हो जाता है। उसका संवाद और संबंध सिर्फ सरकार और सरकारी एजेंसियों से रह जाता है आज फिर केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में विश्वविद्यालय प्रशासन, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ परिवार और केन्द्र सरकार द्वारा मिल जुल कर स्वतंत्र संवाद की संभावनाओं को दमन के हथियार से कुचला जा रहा है।

बजट : कितना गरीब हितैषी?

प्रो. अरुण कुमार

सभी बजट केवल आर्थिक ही नहीं होते हैं, बल्कि सत्तासीन पार्टी के राजनीतिक हथियार भी होते हैं। संघीय बजट 2016-17 भी इसका अपवाद नहीं है। इसका संदेश है कि राजग सरकार गरीब लोगों के पक्ष में मजबूती से खड़ी है। व्यय योजना रु. 19,78,060 करोड़ की है, जो 2016-17 के सकल घरेलू उत्पाद रु. 150,65,010 करोड़ रुपए का 13.1 प्रतिशत है। यह प्रतिशत 2009-10 से कम है। उस समय 15.8 प्रतिशत के शीर्ष पर था। रोचक बात यह है कि वित्तीय घाटे एवं राजस्व घाटे को भी क्रमशः 6.5 प्रतिशत की तुलना में 3.5 प्रतिशत और 5.2 प्रतिशत की तुलना में 2.3 प्रतिशत दिखाया गया है।

बजट का समग्र प्रभाव यह है कि सरकार ने विकास के लिए संसाधनों की गतिशीलता का कोई बड़ा प्रयास नहीं किया है और मौजूदा सरकार ने तो अत्यंत कम प्रयास किया है। ऐसे समय में जब आर्थिक स्थिति पिछले पाँच वर्षों से कठिनाई का सामना कर रही है और इसके बावजूद पिछले तीन वर्षों से सरकार उच्चतर वृद्धि दर दिखा रही है, यह विशेष रूप से समस्याजनक है।

यदि सरकार अतिरिक्त संसाधनों का विकास नहीं करती है तो गरीब वर्ग को लाभ पहुँचाने की इसकी क्षमता नहीं रहेगी और इस घोषणा का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा कि यह समाज के दूसरे वर्गों की कीमत पर किया जाएगा। यह कभी-कभी ही होता है। प्रायः सरकार संसाधनों की कमी होने पर सबसे आसान क्षेत्र यानी सामाजिक क्षेत्र एवं गरीब समुदाय पर व्यय में ही कटौती करती है।

उदाहरण के लिए 2015-16 में कृषि एवं इससे जुड़े हुए क्षेत्रों के लिए योजनागत व्यय 11,657 करोड़ रुपये था लेकिन इस वर्ष इसे 10,942 करोड़ रुपये कर दिया गया है। ग्रामीण विकास के लिए 3.131 करोड़ आवंटित किया गया था और 3027 करोड़ खर्च किया गया। ये संपूर्ण योजनालागत व्यय 5,82,707 करोड़ की तुलना में बहुत छोटे उदाहरण हैं। और उसके बाद भी व्यय में कमी है। इसका साफ संकेत है कि नीति निर्धारण में ही इन क्षेत्रों को अत्यंत कम प्राथमिकता दी गई है।

1. गरीब समर्थक चेहरा?

2016-17 के बजट में कृषि एवं ग्रामीण क्षेत्रों के लिए व्यय हेतु ठोस कदम उठाए जाने की चर्चा की गई है। यह गरीब वर्ग के समर्थन में दिखने की रणनीति का ही हिस्सा है। वित्तमंत्री ने कहा कि बजट परिवर्तनकारी लक्ष्य रखे गए हैं, जिसके नौ स्तम्भ हैं—

(1) कृषि एवं किसान कल्याण, जिसका उद्देश्य अगले पाँच वर्ष में किसानों की आय दुगुनी करना है।

(2) ग्रामीण क्षेत्र, जिसमें ग्रामीण विकास एवं

संरचनागत क्षेत्र पर जोर है।

(3) सामाजिक क्षेत्र, जिसमें स्वास्थ्य भी शामिल है, उसको कल्याण एवं स्वास्थ्य सेवा के अंदर शामिल किया जाएगा।

(4) शिक्षा, कौशल एवं रोजगार निर्माण : भारत को ज्ञान आधारित उत्पादनशील देश बनाना।

(5) संरचना एवं निवेश : जीवन की गुणवत्ता एवं क्षमता का विस्तार।

(6) वित्तीय क्षेत्र सुधार : पारदर्शिता एवं स्थिरता लाना।

(7) सुशासन एवं व्यापार को सरल बनाना : लोगों को इतना सक्षम बनाना कि अपनी पूर्ण क्षमता पहचान सकें।

(8) वित्तीय अनुशासन : सरकारी वित्त का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रबंधन और जरूरतमंद लोगों को लाभ पहुँचाना।

(9) कर सुधार : नागरिकों में विश्वास जताते हुए अनुपालन का बोझ कम करना।

सही है कि कृषि, किसान एवं ग्रामीण क्षेत्र को सबसे ऊपर रखा गया है। इसके साथ ही सामाजिक क्षेत्र, स्वास्थ्य, शिक्षा, कौशल विकास रोजगार निर्माण, वित्तीय समावेशन इत्यादि को भी जोड़ा गया है। इन क्षेत्रों पर जोर देने का निर्णय कितना राजनीतिक है, इस बात पर विचार करने से ज्यादा जरूरी यह विश्लेषण करना है कि क्या 2015-17 के संघीय बजट द्वारा इन्हें पूरा किया जा सकता है।

वित्त मंत्री ने अगले पाँच वर्षों में किसानों की आमदनी दुगुनी करने की बात कही है। कृषि क्षेत्र के संक को देखते हुए यह एक सराहनीय लक्ष्य है लेकिन अनेक विशेषज्ञों को इस संबंध में आशंका है। इसके लिए वास्तव में 15 प्रतिशत वृद्धि दर की आवश्यकता होगी, जबकि सच्चाई यह है कि लगभग पच्चीस वर्षों से वृद्धि दर 2.5 प्रतिशत रही है। इसमें परिवर्तन के लिए संरचनागत परिवर्तन की आवश्यकता होगी, जिसके लिए एक दशक भी कम है, पाँच साल तो बहुत ही कम है।

14वें वित्तीय आयोग की सिफारिशों के मुताबिक ग्राम पंचायतों एवं नगर पालिकाओं को 2.87 लाख करोड़ रुपए का अनुदान दिया जाता है। वित्तमंत्री के अनुसार विगत पाँच वर्षों की अवधि की तुलना में यह 228 प्रतिशत की जबरदस्त उछाल है। इसके तहत प्रत्येक ग्राम पंचायत को 80 लाख रुपए मिलेंगे और प्रत्येक शहरी स्थानीय निकाय को 21 करोड़ रुपए से अधिक मिलेंगे। लेकिन यह धन कहाँ से आएगा? 228 प्रतिशत की वृद्धि का अर्थ है 85,000 करोड़ रुपए से रु. 2.87 लाख करोड़ अर्थात् 2.02 लाख करोड़ रुपए की वृद्धि। मंत्रालयों एवं विभागों द्वारा राज्य एवं संघीय क्षेत्र के योजनागत व्यय में 26,000 करोड़ रुपए की वृद्धि की गई है। विभिन्न कोटियों में आवंटन का विवरण निम्नलिखित है—

1. सड़क परिवहन एवं हाईवे मंत्रालय - रु. 2810 करोड़ से रु. 10,833 करोड़।

2. ग्रामीण विकास मंत्रालय रु. 72922 करोड़ से रु. 79776 करो।

3. शहरी विकास मंत्रालय रु. 3855 करोड़ से रु. 6668 करोड़।

इस प्रकार इन सभी मदों में लगभग 18,000 करोड़ की वृद्धि दर्ज की गई है।

राज्यों को स्थानांतरण की दृष्टि से देखें तो उनके कर राजस्व के शेयर में 5.06 लाख करोड़ से 5.70 लाख करोड़ की वृद्धि हुई है। यह 2.02 लाख करोड़ के आँकड़े के भी कहीं से नजदीक नहीं है।

केवल बजट में कुल व्यय इस आँकड़े रु. 1.93 लाख करोड़ के नजदीक है। यदि यह राशि बजट से आती है तो यूनियन बजट की कुल वृद्धि को इसी मद पर टिकना होगा।

इसके दो निहितार्थ हैं। पहला यह कि सरकार ने आँकड़े बढ़ा-चढ़ाकर बताए हैं और ऐसा लगता है कि व्यय में यह वृद्धि अगले पाँच वर्षों के लिए है, एक वर्ष के लिए नहीं। दूसरा यह कि निधि का स्रोत बजट नहीं बल्कि अन्य जैसे निजी क्षेत्र अथवा कर्ज है। दूसरी तरह से देखें तो इसे इतने बड़े आकार में नहीं दिखाया जाना चाहिए।

उपर्युक्त उदाहरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सरकार ने गरीब हितैषी बजट की छवि बनाने का प्रयास तो किया है, लेकिन बजट में पर्याप्त संसाधन नहीं उपलब्ध कराया गया है। इस प्रकार जो लक्ष्य निर्धारित किये गए हैं, उन्हें प्राप्त करने की संभावना नहीं है। दूसरी समस्या यह है कि यदि बजटरी आकलन गलत होता है तो इन योजनाओं पर व्यय उससे भी कम होगा, जिसकी संभावना है। हमें वर्ष 2015-16 के आँकड़ों का विश्लेषण करना होगा कि ये लक्ष्य प्राप्त करने की कितनी संभावना है। यही आँकड़े आगामी वर्ष के आँकड़ों के आधार पर बनेंगे।

2. बजटरी गणना 2015-16

हर बजट में आगामी वर्ष के लिए व्यय एवं राजस्व का प्रस्ताव किया जाता है। इसीलिए इसे बजट प्राक्कलन कहा जाता है। अपनी प्रकृति में ही यह अनुमान आधारित

होता है और यदि इस अनुमान का आधार ही गलत हो तो व्यय एवं राजस्व का लक्ष्य नहीं हासिल किया जा सकता है। व्यय का लक्ष्य हासिल कर लिया जाए तो भी भ्रष्टाचार, कुशासन एवं अन्तर्विरोधी नीतियों के कारण परिणाम अच्छे नहीं आ सकते। अच्छे बजट का निर्णय तो वर्ष की समाप्ति पर किया जा सकता है, जब दो कोटियों के आँकड़े सही रूप में सामने आएँ।

इस दृष्टि से देखें तो बजट के आँकड़े पिछले एक दशक से प्रायः गलत होते रहे हैं। प्रायः कर राजस्व बजट अनुमान की तुलना में कम होते हैं और व्यय में कटौती की जाती रही है, जिससे कि बजट घाटा न बढ़े। इससे आर्थिक स्थिति में कई तरह की समस्याएँ आती हैं, मसलन माँग में कमी आती है और आर्थिक वृद्धि दर में कमी आती है।

वर्ष 2015-16 अंत की ओर है। समग्र संख्या (जिसे संशोधित आकलन कहा जाता है) बजट प्राकलन के आँकड़ों के प्रायः बराबर है। लेकिन संशोधित प्राकलन के आँकड़ों की विसंगति यह है कि ये बजट प्राकलन के आँकड़ों से अलग हैं। इसलिए कुल व्यय रु. 17,77,477 करोड़ किया जाना था, लेकिन हुआ 17,85,391 करोड़ रुपए अर्थात् 0.44 प्रतिशत का अंतर आया। गैर योजना व्यय रु. 13,12,200 करोड़ होना था लेकिन हुआ 13,08,194 करोड़। यह मामूली अंतर है। योजनागत व्यय रु. 4,65,277 करोड़ और रु. 4,77,197 करोड़ किया जाना था। लेकिन गैर योजना पूँजी व्यय लगभग 11 प्रतिशत कम है जबकि इस कोटि के अन्तर्गत राजस्व व्यय 12 लाख करोड़ में से मात्र रु. 6,000 करोड़ है।

असंगत आँकड़ों की गहराई में जाए तो प्रमुख मदों जैसे ब्याज भुगतान और रक्षा सेवाओं के व्यय में कमी है, जबकि सब्सिडी एवं पेंशन ज्यादा है। गैर योजना पूँजी व्यय रक्षा सेवाओं में पर्याप्त कमी आई है।

चूँकि सरकार ने व्यय एवं वित्तीय घाटे रु. 19,559 करोड़ से कम के स्तर पर बनाए रखा, इसीलिए समग्र राजस्व लक्ष्य कमोवेश प्राप्त कर लिया गया। यह 8,000 करोड़ रुपए कम था लेकिन कुल राशि में असंगत वृद्धि पर्याप्त है। राजस्व प्राप्ति 65000 करोड़ रुपए से ज्यादा है। कर राजस्व 27,500 करोड़ रुपए से ज्यादा है और गैर कर राजस्व 37,000 करोड़ रुपए ज्यादा है।

आगे की असंगति कहीं व्यापक है। कार्पोरेशन कर 9 प्रतिशत कम है और आयकर 18 प्रतिशत तक कम है। इस तरह प्रत्यक्ष कर संग्रह 45,000 करोड़ रुपए तक कम है। संघीय उत्पाद शुल्क 54,000 करोड़ रुपए से ज्यादा है और इसी से प्रत्यक्ष कर के अन्तर्गत राजस्व क्षति पूर्ति की गई है। पेट्रोलियम सामानों पर उत्पाद शुल्क में वृद्धि करके यह हासिल किया गया है, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में मूल्य तेजी से गिर रहा है, लेकिन इसका पूरा लाभ उपभोक्ता को नहीं मिल रहा है। राज्यों को स्थानांतरण 18000 करोड़ रुपए से कम है, इसी से केंद्र की राजस्व उपलब्धता में वृद्धि हुई है।

केन्द्र को गैर कर राजस्व की बजट से ज्यादा प्राप्ति हुई है। लाभांश की हद बढ़ी है और लाभ 17 प्रतिशत तक हुआ। दूसरे गैर कर राजस्व में भी 19 प्रतिशत तक वृद्धि हुई है। वस्तुतः सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों पर उच्चतर लाभांश घोषित करने के लिए दबाव डाला गया, जिसमें आर.बी.आई भी शामिल है। इन इकाइयों ने प्राकृतिक संसाधनों की नीलामी करके राजस्व में वृद्धि की है।

पूँजी प्राप्ति लगभग 56,000 करोड़ रुपए तक कम है। इसलिए कि विनिवेश कार्यक्रम भी उम्मीद के अनुसार नहीं है।

प्रत्यक्ष कर संग्रह उम्मीद के लगभग 45,000 करोड़ रु. तक कम है। इसका अर्थ यह हुआ कि सरकार द्वारा निर्धारित वृद्धि दर का लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ। सरकार ने अनुमान लगाया था कि वृद्धि दर 11.5 प्रतिशत होगी, लेकिन वर्ष 2016-17 के बजट में इसकी संभावना 7 प्रतिशत तक ही है। यह बहुत बड़ी त्रुटि है। यही कारण है कि निम्नतर वित्तीय घाटे (20,500 करोड़ रुपए तक) का आँकड़ा अभी भी सकल घरेलू उत्पाद लक्ष्य से 3.9 प्रतिशत बना हुआ है।

संक्षेप में लक्ष्य आँकड़े और संशोधित आँकड़ों 2015-16 के लिए संगत स्तर तक ठीक है, लेकिन इसमें पर्याप्त मात्रा में असंगति है। अनुकूल परिस्थितियों मसलन पेट्रो उत्पादों की कीमत में अन्तर्राष्ट्रीय कमी, इसका लाभ ग्राहकों को न देकर उत्पाद शुल्क में वृद्धि, स्पेक्ट्रम नीलामी, पेट्रो उत्पादों पर कम सब्सिडी, रक्षा सेवाओं पर कम व्यय के चलते सरकार अपने आँकड़े सही रखने में सफल रही है। यह परिस्थिति बार-बार होने की संभावना नहीं है। वास्तव में यदि पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया तो स्थितियाँ गलत दिशा में जा सकती है और वर्ष 2015-16 के बजट में उल्लिखित एक-दूसरी चीजों का विरोध करती नजर आएँगी।

3. वर्ष 2016-17 के लिए बजटरी गणना : संभावित कमी–

यह दिखाया गया है कि वर्तमान के आँकड़ों में त्रुटि है। आगामी वर्ष में आवंटन के त्रुटिपूर्ण होने के पर्याप्त कारण है। सबसे बड़ा तो यही कि सरकार ने आर्थिक स्थिति में सामान्यतः 11 प्रतिशत वृद्धि का अनुमान लगाया है। हम सभी जानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति कठिनाई में है और वैश्विक आर्थिक स्थिति की दर कम रहने की संभावना है। ऐसे में सरकार ने जिस आर्थिक वृद्धि का अनुमान लगाया है, उसकी कोई संभावना नहीं है। उपभोक्ता मूल्य अनपेक्षित रूप से तेजी से बढ़ा है। यदि थोक मूल्य पिछले आठ माह की तरह ही गिरता रहा तो क्या हम वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद में 14 प्रतिशत वृद्धि की कल्पना कर सकते हैं? यदि आर्थिक वृद्धि दर 8 प्रतिशत रही और थोकमूल्य सूचकांक में 3 प्रतिशत गिरावट रही तो बजटीय आँकड़े का वृद्धि दर सामान्यतः 05 प्रतिशत ही रहेगा, 11 प्रतिशत नहीं।

माना जा रहा है कि कार्पोरेशन कर 9 प्रतिशत तक और आयकर 18 प्रतिशत तक बढ़ेगा। वर्ष 2015-16 में कार्पोरेट क्षेत्र के स्थिर लाभ को देखते हुए इसकी संभावना नहीं है। आबकारी शुल्क दस प्रतिशत बढ़ने की संभावना है लेकिन पिछले 14 महीने में निर्यात में 15-24 प्रतिशत की कमी आई है। इसकी भरपाई होने की संभावना कैसे की जा सकती है? उत्पाद शुल्क 12 प्रतिशत तक बढ़ने की अपेक्षा है। यह भी एक समस्या हो सकती है। सेवा कर 10 प्रतिशत तक बढ़ने की अपेक्षा है। गैर कर राजस्व अन्य गैर कर राजस्व के लिए 40 प्रतिशत से अधिक बढ़ने की संभावना है। संभवतः यह प्राकृतिक संसाधनों की नीलामी पर निर्भर होगी। विनिवेश पुनः 100 प्रतिशत से ज्यादा बढ़ने की अपेक्षा की गई है, लेकिन स्टाक मार्केट की चालू वर्ष की तरह स्थिति को देखते हुए क्या यह संभावित है?

संक्षेप में कहा जाए तो राजस्व प्राप्ति 1.93 लाख करोड़ रुपये बढ़ने की जो उम्मीद है या 2015-16 के संशोधित प्राकलन में 11 प्रतिशत वृद्धि की जो उम्मीद है, वह अनेक तत्वों पर निर्भर करती है। कई आँकड़ों का प्राकलन अधिक हो सकता है। यदि राजस्व के आँकड़े गलत हुए तो या तो घाटा ज्यादा होगा या व्यय में कटौती की जरूरत होगी।

यदि काले धन की वृद्धि पर रोक लगाई जा सके और उस आय के कुछ हिस्से को कर के दायरे में लाया जा सके तो सरकार को अधिक संसाधन प्राप्त हो सकते हैं। दुर्भाग्य से पिछले दो वर्षों से सरकार द्वारा इस दिशा में किए गए प्रमाणों से कोई सकारात्मक परिणाम नहीं मिले हैं। सरकार द्वारा घोषित क्षमा योजना का भी यही हाल हुआ। काले धन को रोकना एक राजनीतिक निर्णय है। विभिन्न तरह के अवैध कार्यों के प्रति कड़ा रुख अपनाना होगा। सरकार ने इस मामले में राजनीतिक इच्छा शक्ति नहीं दिखाई है, क्योंकि यह व्यापारियों के विरुद्ध होगा। सरकार सभी कीमत पर इस छवि से बचना चाहती है। व्यापम और डीमेट जैसे घोटालों पर कार्रवाई धीमी हो रही है। सरकार ने अपने लोगों पर कार्रवाई की तुलना में विपक्ष पर हमला ज्यादा किया है। संदेश यही है कि सरकार राजनीति कर रही है और इन मामलों में ज्यादा गंभीर नहीं है। पुरानी सरकार की ही तरह सत्ता मिल जाने पर यह कोई मसला नहीं रह गया है।

क्या विनिवेश अचानक बढ़ेगा और आर्थिक स्थिति को मजबूती मिलेगी? यह इस बात पर निर्भर करेगा कि माँग बढ़ती है कि नहीं, इस बात पर नहीं निर्भर होगा कि निवेश का कितना प्रोत्साहन दिया जा रहा है। बढ़ते हुए पक्षपात को देखकर इसके होने की संभावना नहीं है। योजना, सामाजिक क्षेत्र, भौतिक संरचना एवं ग्रामीण क्षेत्रों से निश्चित ही मदद मिलेगी लेकिन यह राजस्व लक्ष्य की प्राप्ति पर निर्भर करेगा।

सरकार का चरित्र वित्तीय रूढ़िवाद का है, घाटे का लक्ष्य बने रहने की संभावान है, इसलिए व्यय में कटौती करनी ही होगी। और ये कटौतियाँ, सामाजिक, कृषि एवं ग्रामीण क्षेत्र से की जायेगी, जबकि बजट में इन्हें प्राथमिकता का क्षेत्र कहा गया है। यही वे क्षेत्र हैं, जिनसे माँग और रोजगार में तेजी आ सकती है।

राजग सरकार इस बात से भी समस्याग्रस्त है कि सारे निर्णय का अधिकार प्रधानमंत्री कार्यालय में केंद्रित है। इसलिए निर्णय की प्रक्रिया धीमी रहने की भी शिकायत है। इससे विभिन्न प्रकार की नीतिगत बाधाओं को बढ़ने का अवसर मिला है (जैसी स्थिति यू.पी.ए.) सरकार में बन गई थी। योजना आयोग में नीतियों के समन्वय की कमी की भी समस्या है। कोई ऐसा मंच नहीं है, जहाँ सभी मंत्रालयों के बीच समन्वय हो सकता हो। यह कार्य भी प्रधानमंत्री कार्यालय में ही केन्द्रित है। इस तरह आर्थिक स्थिति में निवेश बढ़ाने के रास्ते में संरचनागत बाधा है।

4. अनिश्चितता का बजट :

आर्थिक स्थिति में बड़े पैमाने पर अनिश्चितता व्याप्त है, इसलिए बजट इस बात को ध्यान में रखकर ही बनाया जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो गणना गलत हो सकती है। इस अनिश्चितता का कारण वैश्विक भी है और

आंतरिक भी। बाह्य तत्वों की सूची इस प्रकार हो सकती है— (क) कुछ बड़ी अर्थव्यवस्थाओं की धीमी वैश्विक आर्थिक वृद्धि। या तो प्रगति धीमी है अथवा मंदी है। (ख) अस्थिरता का ऐसा चक्र बन गया है कि विश्व अर्थव्यवस्था समय-समय पर अस्थिर रहती है। (ग) उपभोक्ता मूल्य घट रहे हैं, जिससे यूरोजोन एवं जापान जैसी बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में महँगाई दर में गिरावट का खतरा बन रहा है। वैश्विक वित्तीय बाजार तेजी से गिरावट की स्थिति में है। यह निवेश के लिए प्रेरक नहीं है। अनिश्चितता की स्थिति में फर्में नया निवेश करने की तुलना में अपनी स्थिति को बनाए रखने को प्राथमिकता देती हैं। भारत के लिए भी यही सच है, हालाँकि यह दूसरी अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में अच्छा करती हुई दिख रही हैं।

अनिश्चितता को बढ़ाने वाले आंतरिक आयाम गंभीर हैं। वे आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक कारणों से उत्पन्न हो रहे हैं। पक्षपात बढ़ा है, जिससे व्यापक उपभोक्ता मदों के लिए माँग घटी है। निर्यात घटता जा रहा है, जिससे बाहरी माँग में कमी आयी है। इन दोनों तत्त्वों के कारण अर्थव्यवस्था निवेश एवं सरकारी व्यय पर निर्भर हो गई है। लेकिन इन दो मोर्चों पर समस्या है। औद्योगिक विकास दर कम है, ऋण लेना भी कम हुआ है और कृषि क्षेत्र में सूखा है। सेवा क्षेत्र ज्यादा कर का सामना कर रहे हैं और उनकी स्थिति अच्छी नहीं है। एनपीए और ऋण माफी के चलते बैंक संकट का सामना कर रहे हैं। खाली संपत्तियों के चलते रियल स्टेट का व्यवसाय संकट में है। अतिरिक्त क्षमता के कारण निवेश कम रहा है। युवा बेरोजगारी के कारण पटेल एवं जाट प्रदर्शन हिंसक हुए हैं। गुर्जर और अन्य समुदाय भी आरक्षण की माँग कर रहे हैं, हालाँकि इससे समस्या का समाधान होने वाला नहीं है। आरक्षण के तहत रोजगार की संख्या बहुत कम है, जबकि बेरोजगारी बहुत ज्यादा है। अच्छे रोजगार की कमी है, इसके साथ ही प्रशिक्षण की खराब स्थिति के चलते कौशल का स्तर भी खराब है। इन कारणों से संकट और बढ़ा ही है, लेकिन सरकार इनका समाधान प्राथमिकता के स्तर पर नहीं कर रही है। कौशल विकास एवं उच्च शिक्षा के लिए कार्यक्रम घोषित किए गए हैं, लेकिन इनसे वास्तविक समस्या जरा भी कम नहीं हुई है। देश के सर्वश्रेष्ठ संस्थानों एवं विश्वविद्यालयों पर आक्रमण ने भी समस्या को बदतर बनाया है। कौशल विकास के लिए वातावरण में सुधार की बजाय ह्रास ही हुआ है। इन वजहों से देश में सामाजिक अस्थिरता पैदा हुई है। राजनीतिक दलों में भी एक दूसरे पर हमला करने से राजनीतिक अस्थिरता बढ़ रही है। भारत में बहुलता व्यापक है और यहाँ कोई भी एकरूपता थोप नहीं सकता है। सहमति बनाने में इसीलिए कठिनाई आ रही है, क्योंकि सत्ता पार्टी संकीर्ण पथ पर चल रही है, जो बहुत लोगों के पक्ष में नहीं है। दुर्भाग्य से राजग सरकार अपने एजेंडा को आगे बढ़ाने के लिए विभाजनकारी कार्यक्रम का क्रियान्वयन कर रही है। इससे अस्थिरता बढ़ रही है और राष्ट्र में जो कार्य किए जाने चाहिए, उससे ध्यान हट रहा है। इससे विदेशी देशों द्वारा किए जा रहे निवेश में कमी का वतावरण बना है और वे सवाल भी उठा रहे हैं।

5. निष्कर्ष :

मौजूदा समय में जो स्थिति है, उससे निकट भविष्य में अनिश्चितता बनी रहेगी। बजट भाषण में इन मुद्दो की चर्चा की गई है, लेकिन आर्थिक मोर्चे पर इनके नियंत्रण का उपाय नहीं है। इन तत्त्वों को बजट निर्माण की प्रक्रिया में शामिल किया जाना था, लेकिन ऐसा नहीं किया गया। उदाहरण के तौर पर वृद्धि दर एवं निवेश का अनुमान बिना किसी ठोस साक्ष्य के किया गया है।

पहली चीज यह है कि अनिश्चितता की स्थिति में योजना सावधानी के साथ बनाई जाए, अति आत्मविश्वास के साथ नहीं। आवश्यकता यह है कि योजना को वास्तविक आँकड़ों पर केन्द्रित किया जाए, न कि अनुमानित आँकड़ों पर, जैसा कि इस बजट में किया गया है। इसके लिए लचीलेपन की आवश्यकता है, आंतरिक बाजार को मजबूत बनाने की आवश्यकता है और वित्तीय नीतियों में भी लचीलापन आवश्यक है। आंतरिक बाजार सरकार के नियंत्रण में है और उसे बाहरी स्थितियों के प्रभाव से अलग होकर मजबूत एवं प्रोत्साहित किया जा सकता है। निर्णय प्रक्रिया तेज करने की आवश्यकता है। इसके लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। सब कुछ प्रधानमंत्री कार्यालय में केंद्रित करने की आवश्यकता नहीं है।

संक्षेप में कहा जाय तो 2016-17 के बजट में गरीब वर्ग के लिए उल्लिखित संसाधन दृश्यमान नहीं है। ये सभी लक्ष्य तभी प्राप्त किए जाएँगे, जब सभी अनुमान सही साबित हों। लेकिन वैश्विक एवं राष्ट्रीय स्तर पर अनिश्चितता को देखते हुए उसकी संभावना नहीं लगती है। बजट में गरीब समर्थक दिखने वाली सरकार को राजनीतिक लाभ इसलिए नहीं मिलेगा, क्योंकि आने वाले समय में उम्मीद के अनुसार सफलता नहीं मिलेगी और संकट गंभीर होता जाएगा।

■

भीम यात्रा : ताकि अब हत्याओं पर रोक लगे

सुभाष गाताडे

दिल्ली की हृदयस्थली में बसा जंतर मंतर, शायद ही कभी एक ही किस्म की त्रासदी झेल रहे लोगों से इस कदर 'आबाद' होता है। साधारण त्रासदी नहीं मानवनिर्मित त्रासदी। 10 दिसम्बर दिब्रुगढ़ से शुरू होकर 125 दिन की यात्रा पूरी करके दिल्ली पहुंची सफाई कर्मचारी आन्दोलन की अगुआई में निकली 'भीम यात्रा' - जिसने इस दौरान 30 राज्यों और 500 जिलों को पार किया - का समापन ऐसे ही एक आयोजन में हुआ।

इस लम्बी यात्रा के समापन के अवसर पर आयोजित विशाल जनसभा में न केवल सैकड़ों की तादाद में सफाई कर्मचारी उपस्थित थे, जो देश के अलग अलग हिस्सों से वहां पहुंचे थे और ऐसे तमाम बुद्धिजीवी, कार्यकर्ता भी मौजूद थे, जो न्याय के लिए जारी उनकी लड़ाई के साथ खड़े रहते आए हैं। डॉ. वी. अम्बेडकर की 125वीं जयंती की पूर्वसंध्या पर आयोजित इस सभा के बहाने दरअसल इसी बात को रेखांकित किया जा रहा था कि उनके विचारों एवं मौजूदा जमीनी हकीकत में कितना अंतराल है। इस यात्रा का विशेष फोकस सीवर एवं सैप्टिक टैंकों में होने वाली मौतों पर था, जिसका प्रमुख नारा था ' सूखे संडासों, सीवर और सैप्टिक टैकों में हमें मारना बन्द कर दो।' दरअसल मंच पर उपस्थित अधिकतर लोग उन परिवारों से ही थे जिन्होंने सीवर या सेप्टिक टैंक की सफाई के दौरान अपनी जान गंवायी थी।

सुनयना, उम्र 9 साल, इन दिनों लखनऊ में अपने नाना-नानी के साथ रहती है, जिसने ऐसी ही 'दुर्घटना' में अपने पिता को खोया और अचानक हुई पति की मौत के सदमे में उसकी मां भी गुजर गयी। सभा में राहुल, उम्र 13 साल, भी तमिलनाडु से पहुंचा था जिसने अपने पिता को इसी तरह महज एक सप्ताह पहले सीवर में खोया था। वाराणसी की पिंकी, उम्र 35 वर्ष, दो बच्चों की मां वहां जुटे तमाम लोगों में बहुत मुखर थी, जिसने अपने पति को तीन साल पहले खोया था और वह इस बात पर जोर दे रही थीं कि 'हम यहां मुआवजे के लिए नहीं आए हैं बल्कि हम चाहते हैं कि आइन्दा किसी भी परिवार पर ऐसी नौबत न आए'। दिल्ली के कर्तार को अब भी हुबहू याद था कि किस तरह उनके बेटे को ठेकदार ने फोन से बुला लिया और सीवर में अन्दर गिर पड़े दूसरे मजदूर को निकालने के लिए अन्दर उतरने के लिए मजबूर किया। और बेटे की भी जहरीली गैस से वहीं ठौर मौत हुई थी। वहां जुटे सभी लोगों के पास इसी तरह दिल दहलाने वाली कहानी थी। अपनी आपबीती कहने के लिए उठी संतोष के लिए तो एक शब्द भी बोलना मुमकिन नहीं हुआ, बस उसके आंसू झरते रहे।

इस पूरी जन सुनवाई में एक सवाल लगातार कौधता रहा, एक ऐसे मुल्क में जो आसमान में उपग्रह/सैटेलाइट भेजने की स्थिति में है या जो वैज्ञानिक-तकनीकी मानवशक्ति के आंकड़ों में दुनिया में अपने आप को तीसरे नम्बर पर रखता है, वहां आखिर कब तक गैरों द्वारा पैदा की गन्दगी एवं मल उठाने के लिए उनकी अपनी सन्तानें या उनके अपने जीवनसाथी इस कदर मारे जाते रहेंगे? आखिर इस बात को कैसे समझा जा सकता है कि ड्रैनेज और सीवरेज के कामों के लिए हजारों करोड़ रूपये खर्च करने के बावजूद, पाईप्स एवं नालियां बनाने के लिए इतना सारा खर्च होने के बावजूद आखिर ऐसा क्यों हो रहा है कि वहां मौतें हो रही हैं? आखिर इसकी वजह यह है कि हमारा समाज वर्ण मानसिकता वाला समाज है और जिसके चलते मानवानुकूल सीवरेज प्रबंधन या कूड़ा निपटारे की व्यवस्था नहीं हो सकी है और नियोजक आसानी से उपलब्ध 'दलित श्रम' पर निर्भर रहते हैं।

गौरतलब है कि अभी पिछले ही माह राज्यसभा में सत्ताधारी पार्टी से जुड़े एक सांसद ने 'सफाई कर्मचारियों पर बने राष्ट्रीय आयोग के हवाले से शून्य काल में बताया था कि हर साल देश के अलग अलग हिस्सों में 22,000 से अधिक लोग सीवर सफाई के दौरान मर रहे हैं।' (http://www.thehindubusinessline.com/news/high-death-rate-among-scavengers-while-on-duty-bjp-mp/article8331909.ece)

आखिर सफाई कर्मचारियों पर बने राष्ट्रीय आयोग ने इन आंकड़ों को किस तरह हासिल किया यह विचारणीय मसला है, मगर यह आंकड़ा एक तरह से नौ साल पहले एक राष्ट्रीय स्तर की पत्रिका में उजागर हुआ है। 'तहलका'

पत्रिका में 'लाइफ इनसाइड ए ब्लैक होल' शीर्षक से प्रकाशित इस लेख में इस बात की चर्चा की गयी थी कि 'किस तरह भारत की चकाचौंध के नीचे वह अंधी गलियां हैं, जहां जहरीली गैसें हैं और आए दिन उसमें मौतें होती रहती हैं। इस रिपोर्ट के कुछ तथ्य मन को सुन्न करने वाले थे। आनन्द के मुताबिक हर साल सैनिटेशन के काम में एक दलित उपजाति के 22,327 लोग मरते हैं। सफाई कामगार विकास संघ, जो वृहनमुंबई म्युनिसिपल कार्पोरेशन के सैनिटेशन कामगारों की नुमाइन्दगी करनेवाली संस्था है, उसने सूचना के अधिकार के जरिए वर्ष 2006 में तथ्य एकत्रित करने की कोशिश की थी और पाया कि 2004-05 के दरमियान 288 सफाई कामगार मरे, तो 2003-04 में यह आंकड़ा 316 था तो 2002-03 में 320 लोग मरे। यह संख्या कार्पोरेशन के 24 वार्डों में से महज 14 वार्डों की थी। कहने का तात्पर्य हर माह 25 मौतें। इसमें सिविल अस्पताल के कामगार, गटर कामगार या ठेके पर काम करनेवाले सैनिटेशन मजदूरों के आंकड़ें शामिल नहीं हैं। आप इन आंकड़ों की तुलना 1990 से 2007 के दरमियान जम्मू कश्मीर में मिलिटेंसी से लड़ते मारे गए 5,100 सैनिकों की संख्या के साथ कर सकते हैं।

लेख में इस बात को भी रेखांकित किया गया कि जहरीली गैसों से मरनेवालों की यही एकमात्रा संख्या नहीं है। दरअसल सीवर में काम करने वाले अधिकतर मजदूर रिटायरमेण्ट के पहले ही मरते हैं। मैनहोल में काम करने वाले कामगार की औसत जीवन सीमा 45 साल होती है। और जैसी कि अपेक्षा की जाती है, अगर कामगार मेनहोल के अन्दर नहीं मरता है तो उसके लिए कोई वित्तीय मुआवजा नहीं मिलता। ऐसी मौतों को पेशागत खतरे की तार्किक परिणति समझा जाता है, जिसके लिए कामगार को ''रिस्क अलाउन्स'' अर्थात ''जोखिम भत्ता'' मिलता है, जो दिल्ली में प्रति माह महज 50 रुपये है।

ऐसी बात नहीं है कि ऐसी 'हत्याओं' को रोकने के लिए विधायी कार्रवाइयां या नीतिगत हस्तक्षेपों को अंजाम नहीं दिया गया है मगर उन सभी का प्रभाव प्रतीकात्मक ही रहा है। वर्ष 2014 में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ऐतिहासिक फैसले मे सभी राज्य सरकारों और केन्द्रशासित प्रदेशों को 2013 के संशोधित अधिनियम को सख्ती से लागू करने का आदेश दिया था ताकि सीवर में मौतों पर रोक लगायी जा सके और मेनहोल में काम करने के दौरान होने वाली मौतों को लेकर 10 लाख रूपए से अधिक मुआवजा देने के लिए कहा था। 'सफाई कर्मचारी आन्दोलन' द्वारा इस सिलसिले में किया गया अध्ययन बताता है कि ऐसे महज 3 फीसदी पीड़ितों को मुआवजा मिल सका है।

भारत में सीवर और सैप्टिक टैंकों में होने वाली टल सकने वाली इतनी सारी मौतों को लेकर किसी को यह भ्रम हो सकता है कि यह आम परिघटना है। पेशागत स्वास्थ्य चिकित्सक आशीष मित्तल जिन्होंने सीवर कामगारों पर एक अध्ययन किया है, होल टू हेल, 2005, जिसमें उस प्रश्न का भी जवाब देने की कोशिश की गयी है, उसमें बताया गया था—

''वहां के मेनहोल कामगारों को बाकायदा बनी सूट दिए जाते हैं ताकि दूषित पानी से उनका सम्पर्क न हो और उन्हें सांस लेने का उपकरण भी दिया जाता है; सीवर में भरपूर रौशनी होती है, जिनमें बड़े पंखों से हवा चलायी जाती है और इस वजह से उनमें कभी भी ऑक्सिजन की कमी नहीं होती। हांगकांग में, एक सीवर कामगार को पर्याप्त प्रशिक्षण के बाद कम से कम 15 लाइसेन्स और परमिटों की जरूरत होती है, जिसके बिना वह मेनहोल में वह उतर नहीं सकता।''

अब अगर भारत की बात करें तो यहां मेनहोल कामगार हाफ पैण्ट या महज लुंगी या धोती लगा कर अन्दर उतरते हैं। दिल्ली में, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के निर्देशों के बाद, अक्तूबर 2002, दिल्ली जल बोर्ड के स्थायी कर्मचारी एक 'सेफ्टी बेल्ट' पहन लेते हैं, जो एक मज़ाक है। यह बेल्ट जो गटर में उतरने वाले कामगार को मोटी रस्सी के जरिए उपर खड़े आदमी से जोड़ता है, वह उन जहरीली गैसों से कोई सुरक्षा प्रदान नहीं करता और न ही उन धारदार वस्तुओं से उसे बचाता है, जिनसे मेनहोल कामगार को निपटना पड़ता है। अधिक से अधिक, वह उस कामगार को बाहर निकालने में मददगार होता है, जब वह बेहोश हो जाये या मर जाए।

जंतर मंतर पर आयोजित इस जन सुनवाई में सफाई कर्मचारी आन्दोलन के अग्रणी कार्यकर्ता बेजवाडा विल्सन ने 'भीम यात्रा' के दौरान अहमदाबाद का अनुभव बताया। सफाई कर्मचारियों के साथ हुई सभा के बाद वहां उनकी मुलाकात एक बच्चे से हुई, जिसने उन्हें बताया कि वह 'डाक्टर बनना चाहता है।' जब और उसे पूछने की कोशिश की तो पता चला कि उसके पिता की मौत सीवर में जहरीली गैसों से हुई थी और उन्हें बचाया जा सकता था अगर उन्हें वक्त पर चिकित्सकीय सहायता मिल जाती। बच्चे ने जोर देकर कहा 'अगर मैं डाक्टर बना तो कम से कम इस बात को सुनिश्चित करूंगा कि आईन्दा कोई गटर कामगार बिना

चिकित्सा के न मरे।'

यह एक सकारात्मक चिन्ह है कि ऐतिहासिक तौर पर बहिष्कृत एवं अपमानित किए जाते रहे 'स्वच्छता कामगार' समुदायों मे नयी जागरूकता देखने को मिल रही है और समुदाय के युवाओं का अच्छा खासा हिस्सा झाड़ू एवं मानवीय गन्दगी को हटाने के दुश्चक्र से बाहर निकलने के लिए बेचैन है।

वैसे एक बात अवश्य कही जा सकती है कि 'सूखे संडासों, सीवर और सैप्टिक टैंकों मे हो रही इन हत्याओं' के खिलाफ आयोजित भीम यात्रा का आयोजन, बहुत गाजेबाजे के साथ चल रहे 'स्वच्छ भारत अभियान' के हिसाब से अनुचित वक्त़ पर हो रहा है। यह सुनने में आया है कि अपनी इस योजना के जरिए सकारात्मक संदेश देने के लिए सरकार प्रयत्नशील है। उसने न केवल तमाम सरकारी महकमों को यह आदेश दिया है कि वह अपने स्तर पर स्वच्छता को लेकर प्रतिज्ञा लेने के कार्यक्रमों का आयोजन करें - जैसा कि स्वच्छता अभियान के शुरूआत में किया गया था। उसने सेवा कर के साथ 'स्वच्छता सेस अर्थात कर' को लेने की भी शुरूआत नवम्बर 2015 से की है। यह प्रस्ताव भी विचाराधीन है कि निजी कम्पनियों और सार्वजनिक क्षेत्रों के उद्यम कार्पोरेट सोशल रिस्पान्सिबिलिटी अर्थात् कार्पोरेट सामाजिक जिम्मेदारी के अन्तर्गत दिए जाने वाले फंड का तीस फीसदी स्वच्छ भारत अभियान के कोश में दें।

लेकिन यह बात साफ है कि यह सभी चमकदमक उन तमाम सवालों को दबा नहीं सकेगी या आलोचना के उन स्वरों को दमित नहीं कर सकेगी जो इस अभियान को लेकर उठ रहे हैं। स्वच्छ भारत अभियान के तमाम दावे अपनी जगह, मगर उसे इस छोटे से सवाल से रूबरू होना ही पड़ेगा कि आखिर क्यों आज भी लोग सूखे संडासों, सीवरों और सैप्टिक टैंकों में मारे जा रहे हैं और उनके लिए 'स्वच्छ भारत' के तमाम दावे कितने हवाई दिखते हैं।

'भीम यात्रा' और अन्य मुददों पर बेजवाडा विल्सन के साथ बातचीत

> **'स्वच्छ भारत अभियान जाति और स्वच्छता/ सैनिटेशन के मसले के अन्तर्सम्बन्ध को विलुप्त करता है और सफाई कामगार समुदायों में झाड़ू का महिमामंडन करता है' -**
> **बेजवाडा विल्सन, 'सफाई कर्मचारी आन्दोलन के राष्ट्रीय कन्वेनर**

सुभाषः आप भीम यात्रा के प्रभाव को किस तरह देखते हैं?

बेजवाडाः अब जहां तक स्वच्छता के काम में सदियों से लगे समुदायों का ताल्लुक है तो यह कह सकते हैं कि 125 दिन की भीम यात्रा ने दो महत्त्वपूर्ण प्रभाव छोड़े हैंः–

- एक उसने लोगों को नए अधिनियम/2013 के अधिनियम/के बारे में जागरूक बनाया है जिसका निर्माण हाथ से मल निकासी की प्रभावी समाप्ति के लिए हुआ है और उन्हें चाहिए कि अपनी मुक्ति के लिए वह उसका इस्तेमाल करें।
- दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह है कि लोगों को अब इस बात का एहसास हो रहा है कि हमें इस काम को पूरी तरह छोड़ देना चाहिए। दरअसल बाबासाहब अम्बेडकर की यह शिक्षा कि दलित/दमित समुदायों को ऐसे सभी 'पेशों' से मुक्ति लेनी चाहिए जो 'लांछित' समझे जाते हैं और उनकी संलिप्तता से वे उन्हें अधिक लांछित बनाते हैं, अब व्यापक तबकों तक पहुंची है। 'झाड़ू छोड़ो, कलम उठाओ' का नारा अब जगह-जगह विशेषकर युवा तबकों में गूंज रहा है।

सुभाषः हाथ से मल उठाने की परिपाटी की तरफ या खासकर भीम यात्रा को लेकर सिविल समाज की प्रतिक्रिया को आप किस तरह देखते हैं ?

बेजवाडाः कोई भी देख सकता है कि नागरिक समाज इस प्रथा की समाप्ति के लिए कई तरीकों से महत्त्वपूर्ण रोल अदा कर सकता है - उदाहरण के तौर पर वह उन कानूनों या नीतियों को लोकप्रिय बना सकता है जिनका निर्माण इसकी समाप्ति के लिए हुआ है, वह चाहे

तो इस कानून के उल्लंघन के नज़र आती घटनाओं की पुलिस में रिपोर्ट कर सकता है तथा अपनी सक्रियता दिखा सकता है, मगर जैसा कि स्पष्ट है वह मौन ही रहता है। यह अकारण नहीं कि 1993 के अधिनियम या 2013 के संशोधित अधिनियम के बाद भी अभी तक इस मामले में किसी को भी सज़ा नहीं हो सकी है और न ही ज़मीनी हालात में कोई गुणात्मक अंतर देखने को मिला है। यह दरअसल इसी बात का परिचायक है कि नागरिक समाज या तो 'मौन' अख्तियार किए हुए है या इस प्रथा के प्रति 'सांठगांठ' रखता है।

सवाल उठता है कि आखिर क्यों नागरिक समाज - जो अन्य मसलों पर अपनी आवाज़ बुलन्द करता दिखता है - जब भी यह मसला उठता है चुप्पी अख्तियार करता है। मेरी समझदारी यह है कि नागरिक समाज निश्चित ही इस प्रथा के बारे में जानता है, मगर अपने नजदीकी भविष्य को लेकर अधिक चिंतित रहता है क्योंकि उसे लगता है कि अगर सफाई कर्मचारियों ने एक दिन वाकई इस 'पेशे' को छोड़ दिया तो मानवीय मल उठाने का काम कौन करेगा और उन्हें शायद अपने हाथ गंदे करने पड़ेगे।

दूसरे, हाथ से मल उठाने की बात जब भी चलती है तब वह विचित्र व्यवहार करता है। वह एक तरफ इस बात की चर्चा करता है कि आज भी किस तरह लोग यह गंदा काम करने के लिए अभिशप्त हैं, मगर वह उन लोगों की बात नहीं करता जो लोग स्वाभिमान के चलते इस 'पेशे' को छोड़ रहे हैं।

अब जहां तक भीमयात्रा का सवाल है तो उसने इनमें से कुछ को अवश्य प्रभावित किया और नागरिक समाज के सदस्यों ने जगह जगह आयोजित सभाओं, रैलियों में भाग भी लिया और सभाओं को भी संबोधित किया। मीडिया के एक हिस्से में भी यात्रा की सकारात्मक प्रतिक्रिया रही।

सुभाषः यात्रा की समाप्ति के बाद अब आप की आगे की योजना क्या है ?

बेजवाडाः हम लोगों ने विभिन्न स्तरों पर ज्ञापन सौंपे हैं, यहां तक कि देश के कर्णधारों को भी ज्ञापन दिए हैं और उन्हें कहा है कि अब बिना हीलाहवाली के इस प्रथा को रोक लगाने का इन्तज़ाम करें। हम साफ चाहते हैं कि अब इसमें कोई विलम्ब न हो, न ही डेडलाईन आगे बढ़ाने की नयी कार्रवाई। आज़ादी मिले हमें सत्तर साल होने को है लेकिन सफाई कर्मचारी समुदाय आज भी सदियों से चली आ रही गुलामी से आज़ादी पाने के लिए प्रयासरत है जिसके चलते हाथ से मल उठाने वाले तमाम लोग अकाल मौत का शिकार हो रहे हैं। हमें इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि अन्य कामगारों की तुलना में सफाई कामगारों की औसत आयु कम होती है क्योंकि पेशागत खतरे के तौर पर उन्हें जहरीली गैसों या खतरनाक पदार्थों का सामना करना पड़ता है, जिससे दुर्घटना होती है।

एक बात तो तय है कि अगर सरकार ने हमारी मांगों पर गौर नहीं किया तो देश के कोने कोने से हजारों की तादाद में सफाई कर्मचारी संसद पहुंचेंगे और संसद पर दबाव डालेंगे कि वह अपने रूख को बदले। दरअसल भीम यात्रा के दौरान देश में जगह जगह आयोजित सभाओं में हम इस मुददे को रेखांकित करते रहे हैं कि हमारा संघर्ष चन्द टुकड़ों के लिए नहीं है बल्कि मानवीय गरिमा के लिए है और यह एक ऐसा संघर्ष है जो हमें ही आगे ले जाना पड़ेगा। निश्चित ही अन्य इन्साफपसंद लोग हमारा साथ देंगे, मगर अगर हम खुद संगठित होने, संघर्ष करने के लिए, कुर्बानियां देने के लिए तैयार न हों तो बाकी हमारा साथ किस आधार पर दे सकेंगे ?

अब इस संघर्ष को आगे ले जाने के कई रास्ते खुलते दिखते हैंः उदाहरण के तौर पर हम अदालत का रूख करने वाले हैं ताकि वह 2013 के अधिनियम पर सख्ती से अमल हो इसकी निगरानी करे। हम इस बात को भी समझते हैं कि महज दरखास्त देने से, याचिका भेजने से, अदालत का सहारा लेने से या धरना देने से समस्या का जड़मूल से समाधान नहीं होगा, अब वक्त.आ गया है कि सफाई कर्मचारी खुद को राष्ट्रीय स्तर पर संगठित करें और हड़ताल का ऐलान करें, तभी नागरिक समाज एवं राज्य दोनों अपनी शीतनिद्रा से जग सकते हैं।

ऐसे तमाम समानधर्मा संगठन एवं पार्टियां मौजूद हैं जो सफाई कर्मचारियों की बेहतरी के लिए सक्रिय हैं, हम उनसे भी संपर्क करना चाहते हैं और उनके साथ संवाद की प्रक्रिया को आगे बढ़ाना चाहते हैं ताकि राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक गोलबन्दी की जा सके। फौरी तौर पर हम उन छह राज्यों पर अपना ध्यान विशेष केन्द्रित करने वाले हैं, जहां सरकारी आंकड़ों के हिसाब से हाथ से मल उठाने की प्रक्रिया आज भी जोरों पर है।

सुभाषः स्वच्छ भारत अभियान को लेकर आपका आकलन क्या है, जिसको बड़े धूमधाम से मौजूदा सरकार ने शुरू किया था ?

बेजवाडाः स्वच्छ भारत अभियान के साथ बुनियादी समस्या यह है कि वह स्वच्छता/सैनिटेशन के सवाल को उसके सामाजिक जड़ों से विच्छिन्न कर देता है, काट देता है। देखिये 1990 के बाद - जब डॉ. अम्बेडकर के जन्मशती समारोहों को आयोजन हो चुका था - हम लोगों ने सफाई कर्मचारियों की मुहिम का आगाज़ किया और प्रचार तथा आन्दोलन के जरिए इस सच्चाई को बेपर्दा किया कि भारतीय सन्दर्भ में सैनिटेशन एक किस्म का 'जाति' आधारित, और पुरूषसत्ता आधारित 'पेशा' है और धीरे धीरे इसकी व्यापक स्वीकार्यता बनी।

हमारा तथा अन्य समानांतर हस्तक्षेपों/आन्दोलनों का सम्मिलित नतीजा यह देख सकते हैं कि केन्द्र सरकार को 1993 के अधिनियम को बदलना पड़ा तथा हाथ से मल उठाने वाले की परिभाषा को अधिक व्यापक बनाना पड़ा ताकि सीवर कामगार या सैप्टिक टैंक में काम करनेवाले लोगों को भी उसमें शामिल किया जा सके। सफाई का काम करनेवाले समुदायों में जो उच्चनीच अनुक्रम पर आधारित जाति व्यवस्था के, जो शुद्धता एवं प्रदूषण पर टिकी है, सदियों से शिकार रहे हैं, उन तबकों में भी जबर्दस्त जागृति देखने को मिली। तमाम स्थानों पर लोगों ने खासकर महिलाओं ने आगे आकर न केवल सूखे संडासों को ध्वस्त किया बल्कि उनकी गुलामी का प्रतीक बांस की टोकरी एवं खपच्ची को भी आग के हवाले किया और यह भी तय किया कि वह अपने परिवार के युवाओं को इस 'पेशे' से दूर रखेंगे।

स्वच्छ भारत अभियान जिस तरह स्वच्छता को देखता है वही समस्यामूलक है। वह उसे सभी का काम कहता है। हम लोग प्रधानमंत्री महोदय द्वारा लोगों को दिलायी गयी स्वच्छता प्रतिज्ञा पर गौर कर सकते हैं जो बताती है कि 'अब हमारा कर्तव्य है कि गंदगी को दूर करके भारतमाता की सेवा करें।' यह रूख एक तरह से स्वच्छता एवं जाति में व्याप्त अन्तर्सम्बन्ध पर, जो भारत में मौजूद है, परदा डालता है, जिसने भारत में तमाम समुदायों को इस 'पेशे' में ढकेला है ; इतना ही नहीं यह सफाई कर्मचारियों के आन्दोलनों की उपलब्धियों को ही नकारता है जिन्होंने दक्षिण एशिया के सन्दर्भ में जाति के प्रश्न को सन्दर्भित करने की कोशिश की है और इस बात को रेखांकित किया है कि जाति के सवाल को संबोधित किए बिना यहां सफाई/सैनिटेशन के सवाल से निपटा नहीं जा सकता।

हमारा साफ मानना है स्वच्छ भारत अभियान एक तरह से विदेशी निवेशकों को यहां आकर्षित करने के लिए शुरू किया गया है ताकि उन्हें यह बताया जा सके कि यह पुराना भारत नहीं है बल्कि नया भारत है जहां हर कोई इतना अनुशासित है कि सफाई के काम में लगा है।

आप जो कहा जा रहा है और चीजें जमीन पर किस तरह उद्घाटित हो रही हैं, इसके अन्तराल को भी देख सकते हैं। स्वच्छ भारत अभियान शुरू किया गया, सेलिब्रेटीज आयीं, उन्होंने फोटो खींचे, अच्छी अच्छी बातें कहीं और चले गए, आज देखिए सफाई कौन कर रहा है, हम ही लोग उसमें लगे हैं। एक तरह से देखें तो यह अभियान उन्हीं समुदायों में झाडू को महिमामंडित करने में लगा है जो सदियों से इस काम को कर रहे हैं। और हम ऐलान करते हैं कि हम लोग इसे अब नहीं करेंगे।

आप इस बात को भी नोट कर सकते हैं कि इस अभियान ने कहीं भी सफाई कामगारों की गरिमा की बात नहीं की गयी। स्वच्छता अभियान का सूत्र है टॉयलेट बनाओ और जिसके तहत 2019 तक 12 करोड टायलेट बनाने की योजना है। और अब चूंकि इतनी सीवरेज लाइन बिछी नहीं है लिहाजा हर टॉयलेट के साथ आप को सैप्टिक टैंक बनाना होगा। किसी ने यह पूछा कि यह सैप्टिक टैंक कौन साफ करेगा, वह काम फिर हमारे कंधों पर ही आएगा। फिर इसमें भी सफाई के दौरान मौतें होंगी।

क्या यह अधिक मौतों का स्वागत नहीं है। क्या इसे हम होलोकास्ट - नात्सी काल में यहुदियों के जनसंहार - के भारतीय संस्करण के तौर पर नहीं देख सकते?

आप एक तरफ स्वच्छ भारत के लिए 11,300 करोड़ रुपए लगाने की बात कर रहे हैं, मगर आप दूसरी तरफ देखेंगे कि हाथ से मल उठाने पर रोक लगाने के लिए या इस काम को छोड़ने वालों को वैकल्पिक रोजगार दिलाने के लिए आवंटित राशि में कटौती की जा रही है। पिछले बजट मे यह राशि 570 करोड़ रुपए थी जो इस बजट में महज 10 करोड़ कर दी गयी है। और इस विरोधाभास को लेकर कोई शोरगुल भी नहीं है।

प्रस्तुतिः सुभाष गाताडे

■

‘स्मार्ट’ भी क्या नगर की पहचान होती है ?

दुनु रॉय

सरकार ने जब दो साल पहले ऐलान किया था कि 100 ‘स्मार्ट’ शहरों के लिए रु.48,000 करोड़ नियत होंगे तो कई नागरिकों को लगा, ‘वाह, अब हम भी ‘स्मार्ट’ बनने वाले हैं!’ लेकिन ‘स्मार्ट’ होता क्या है? - होशियार? बना ठना? चतुर? बुद्धिमान? और शहर कैसे ‘स्मार्ट’ बन जाता है? सरकारी निर्देशिका के मुताबिक ‘शहर वृद्धि का इंजन है’ - याने कि अगर देश में आर्थिक विकास होना है तो शहर उस विकास की ऊर्जा है, उसको गतिमान बनाती है। योजना आयोग के एक अध्ययन के अनुसार यदि एक मज़दूर को गांव से शहर विस्थापित किया जाये तो उस मज़दूर की उत्पादकता चार गुना बढ़ जाती है। और यह भी कहा गया है कि ‘विकसित’ देशों में उत्पादकता में वृद्धि सात गुना होती है। इसका मतलब यह नहीं कि मज़दूर को चार या सात गुना अधिक वेतन मिलता है, लेकिन मालिक के मुनाफा में ज़रूर कई गुना बढ़ोत्तरी होती है। इसी को शायद देश के आर्थिक विकास की संज्ञा दी जाती है। क्योंकि शहरी विकास मंत्रालय का लक्ष्य है कि सन् 2030 तक अगर 100 में से 40 हिंदुस्तानी शहर में रहने लगेंगे तो देश के जीडीपी (सकल घरेलू उत्पाद) में 75% का योगदान होगा।

साथ साथ शहर को ‘स्मार्ट’ भी बनाना है - अर्थात इतनी बड़ी आबादी को सभी सुविधाएं प्रदान करनी हैं और उन सुविधाओं को स्वावलम्बी बनाना है ताकि शहर की व्यवस्था घाटे में न जाये। हर सुविधा को इस प्रकार से नियोजित करना है कि सबको मिल सके, जिसको मिले वो उसकी कीमत दे, और उस कीमत से शहर का खर्च निकल सके - अन्यथा शहर वृद्धि या आर्थिक विकास का इंजन कैसे होगा? इसी तर्क से पनपती है ‘स्मार्ट’ समाधान की सोच। पानी बिजली के लिए लगे मीटर; सड़क पर लगे सी सी टी वी कैमरा और इलेक्ट्रॉनिक सेंसर; मोबाइल से प्रदत्त जानकारीः इन सभी सूत्रों के माध्यम से शहर के हर सुविधा की तात्कालिक जानकारी इकट्ठा होगी और केंद्रीय स्तर पर उसका विश्लेषण करके सुविधाओं का नियंत्रण होगा। जैसे कि अगर ‘स्मार्ट’ कैमरा से पता चला कि किसी सड़क पर भीड़ है तो ‘स्मार्ट’ उपग्रह से जानकारी ली जाएगी कि कौन सा वैकल्पिक मार्ग खाली है, और उसकी जानकारी ‘स्मार्ट’ फोन द्वारा हर ‘स्मार्ट’ मुसाफिर को पहुंचाई जाएगी, ताकि यातायात अवरुद्ध ना हो, लोगों का कीमती समय ज़ाया ना जाये, सड़कों का उचित उपयोग हो, रोड टैक्स भी सही वक़्त पर जमा हो, प्रदूषण कम हो जाये, और शहर की अर्थ-व्यवस्था गतिमान रहे।

इसी प्रकार की सोच हर सुविधा से जुड़ी है - चाहे बिजली पानी की सप्लाई हो, या कूड़ा प्रबंधन, या परिवहन, या सफाई और मनोरंजन। एक अनूठा प्रस्ताव महाराष्ट्र से आया है। वहां राज्य परिवहन की बसों को टायर मुहैय्या करने वाली हर कम्पनी को निर्देश दिया गया है कि इलेक्ट्रॉनिक ‘चिप’ टायर के अंदर लगा दिया जाये। जैसे जैसे टायर घिसता जाएगा वैसे वैसे उसकी सूचना नियंत्रण केंद्र तक तत्काल पहुंचती जाएगी। जब टायर की स्थिति गंभीर होने लगेगी तब उसका सिगनल परिवहन के उपयुक्त कार्यशाला तक भेज दिया जाएगा ताकि टायर के फटने के पहले उसको बदल दिया जाये, यातायात में रुकावट ना हो, मुसाफिर को कष्ट भी ना हो, और राज्य परिवहन को आर्थिक नुकसान ना हो। साथ ही यह जानकारी कम्प्यूटर में कैद रहेगी कि कितने टायर बदले गए, कितने टायर गोदाम में हैं, और कब टायर खरीद कर कहाँ समय से पहुंचाने हैं। इससे गोदाम का खर्च कम होगा, टायर खरीद कर लम्बे समय से भंडार में रखने की ज़रूरत नहीं होगी, आपातकालीन मरम्मत नहीं करनी पड़ेगी, और मुनाफा बढ़ेगा। निश्चित है देश का आर्थिक विकास होता रहेगा।

निर्देशिका के मुताबिक ‘स्मार्ट’ शहर के चार अवतार हैं। पहला, मौजूदा शहर के किसी भाग में - जो 500 एकड़ का हो - ‘स्मार्ट’ व्यवस्था का निर्माण। दूसरा, एक नए ‘स्मार्ट’ शहर - जो 250 एकड़ का हो - की स्थापना। तीसरा, शहर के पुराने हिस्से जो लगभग 50 एकड़, में ‘स्मार्ट’ पुनर्निर्माण। और चौथा, पूरे शहर में कुछ ‘स्मार्ट’ प्रयोग। अभी के 20 चुने हुए ‘स्मार्ट’ शहरों में सबसे छोटा काकीनाडा है, जिसका क्षेत्रफल 7877 एकड़ है। उसके केवल 17% चयनित क्षेत्र में 14 ई-पाठशालाएं, 1 हस्पताल, कुछ मॉल और होटल, 2 बगीचे, निम्न वर्ग के लिए 4760 मकान, 1 कलाक्षेत्रम्, यातायात, 20

मोबाइल टावर, सौर ऊर्जा, 1 नियंत्रण केंद्र, नदी तट पर सौंदर्यीकरण, 247 पानी सप्लाई, भूमिगत बिजली और गैस सप्लाई, सीवर मरम्मत, कूड़ा प्रबंधन, और जल निकासी का निर्माण होगा - जिस पर रु.1993 करोड़ के कुल बजट का 94% खर्च होगा। बाकी पूरे शहर के लिए दो योजनाएं हैंः कूड़ा प्रबंधन में कम्प्यूटरों के जाल का उपयोग; और पानी, बिजली, पार्किंग, प्रदूषण-मापन के लिए हर जगह मीटर और ई-बूथ - जिसके लिए मात्र 6% बजट का प्रावधान है।

इसी से स्पष्ट हो जाता है कि शहर के एक छोटे से हिस्से पर अधिकाधिक खर्च होने वाला है - और आम तौर पर यह छोटा सा हिस्सा वही क्षेत्र है जो पहले से ही 'विकसित' है। इसकी वजह है कि सरकार से आया रु.1000 करोड़ 'इक्विटी' शेयर के रूप में होगा (याने कि मुनाफा/घाटा दोनों में हिस्सा), और बाकी बाज़ार से क़र्ज़ के रूप में उठाना पड़ेगा। इसलिए जिन शहरों को 'स्मार्ट' होने के लिए चुना गया है उसका मुख्य पैमाना है उनकी आर्थिक स्थिति और क़र्ज़ लौटाने की क्षमता। जो पूंजी आएगी उसे एक खास कम्पनी के खाते में जमा किया जाएगा जिसका काम होगा पूरी परियोजना को क्रियान्वित करना। जो मुनाफा होगा वो भी इसी कम्पनी के खाते में जायेगा। यही है मतलब 'वृद्धि के इंजन' का। परिणामस्वरूप नगर निगम/परिषद का नगर के 'स्मार्ट' विकास के साथ कोई संबंध नहीं रहेगा। ना ही आम नागरिक अपने चयनित पार्षद के पास किसी शिकायत या तकलीफ के लिए जा पायेगा क्योंकि जन-प्रतिनिधि अब 'स्मार्ट' शहर की परिधि से बाहर हो गए हैं। एक प्रकार से शहर 'निजीकरण' की ओर बढ़ रहा होगा और लोकतंत्र की व्यवस्था धीरे धीरे निष्क्रिय हो जाएगी। हालांकि यह सब विकास पूरे शहर के आम लोगों की दुहाई देकर ही होगा।

20 प्रस्तावित शहरों में से दक्षिण में विशाखापट्टनम् का उदाहरण लेकर देखें तो इस शहर का 'नवीनीकरण' पहले ही 2005 और 2012 के बीच जवाहरलाल नेहरू शहरी मिशन के तहत हो चुका है। करीब 1.5 लाख एकड़ ज़मीन पर फैले महानगर में लगभग 19 लाख की आबादी है जिसमें से 3.9 लाख लोगों ने 'स्मार्ट' शहर की परिकल्पना पर आयोजित 'स्मार्ट' जनमत-संग्रह (याने की मोबाइल और नेट द्वारा किया गया) में भाग लिया। परन्तु शहर के जिस भाग को अंततः 'स्मार्ट' बनाने के लिए चुना गया उसका क्षेत्र पूरे शहर का केवल 0.4% और आबादी सिर्फ 4% है। जनमत के मुताबिक आपदा प्रबंधन को प्रथमिकता दी गयी (16%), उसके बाद सीवर और निकासी (15%), और तीसरे नंबर पर पानी सप्लाई (14%)। लेकिन योजनाकारों ने रु. 1938 करोड़ के कुल बजट में से 16% सौर ऊर्जा, 12% भूमिगत तार प्रणाली, और 12% समुद्र-तट सौंदर्यीकरण के लिए आवंटित किया। पूरे शहर के लिए केवल आपदा प्रबंधन और ई-प्रशासन को अंकित किया गया है, लेकिन 93% पैसा समुद्र तट के एक पतले से भू-भाग पर न्यौछावर होने वाला है।

उत्तर में लुधियाना शहर का भी पहले नेहरू मिशन के अंतर्गत नवीनीकरण हो चुका है। विशाखापट्टनम् की तुलना में इसकी ज़मीन (77,500 एकड़) आधी है लेकिन आबादी (14 लाख) तीन-चौथाई है। 1 लाख लोगों ने जनमत देकर फिरोज़पुर रोड के बगल की पूर्व-विकसित 1% भू-भाग को 'स्मार्ट' बनाने के लिए चयन किया जिसकी आबादी मात्र 3% है। जनमत के अनुसार सबसे अहम समस्याएं अत्यधिक प्रदूषण (16%), बिजली की कटौती (10%), और पीने लायक पानी की कमी (9%) थी। लेकिन योजना सलाहकारों ने रु.1017 करोड़ के कुल बजट का बड़ा हिस्सा 1% चयनित क्षेत्र में यातायात (42%) और शहरी सौंदर्यीकरण (28%) के बीच आवंटित कर दिया है। बाकी 99% शहर के लिए बचे 12% पैसों से ई-रिक्शा बढ़ाएंगे जिससे प्रदूषण कम हो, और 'स्मार्ट' जी पी एस की व्यवस्था करेंगे जिसका उपयोग उपभोक्ताओं की खबर रखने में होगी ताकि सम्पत्ति कर के मद में इज़ाफ़ा हो। काकीनाडा, विशाखापट्टनम्, और लुधियाना के तीनों उदाहरणों से 'स्मार्ट' शहर के तीन आयाम तो समझ में आ ही जाते हैंः पहला यह कि पूरा शहर नहीं, केवल एक छोटा सा हिस्सा 'स्मार्ट' बनने वाला है; दूसरा कि तीन-चौथाई से आधा बजट इस छोटे से हिस्से पर खर्च होगा; और तीसरा कि पूरे शहर की वृद्धि के बहाने वसूली भी पूरे शहर से होने वाली है।

तब एक सवाल ज़रूर पैदा होता है - क्या इस शहरी 'इंजन' से पूँजी का रस निकाला जा सकेगा? विशाखापट्टनम् जैसे महानगर की योजना के अनुसार 15 वर्षों में रु.2080 करोड़ संचयित खर्च होने वाला है, जबकि उन्हीं 15 वर्षों में रु.542 करोड़ की ही कुल आय होगी। उससे छोटे शहर लुधियाना में कल्पना आसमान की तरफ बढ़ने वाली है क्योंकि 15 वर्षों में वहाँ रु.7142 करोड़ खर्च करने की योजना है लेकिन कुल आय केवल रु.388 करोड़ है। इसी रफ़्तार से चलती रहेंगी दोनों शहर की अर्थ-व्यवस्था तो अगले 50 साल में भी खर्चों की भरपाई नहीं हो

पाएगी। यदि शहर को स्वावलम्बी बनाने का निश्चय है तो आय को बढ़ाना पड़ेगा। और उसका एकमात्र उपाय है कि एक तरफ सुविधा प्रदान करने वाले कर्मियों की छटनी से खर्चा कम करो, और दूसरी तरफ उपभोक्ताओं से वसूले दाम को बढ़ा कर आमदनी का विस्तार करो। ज़ाहिर है कि यदि बिजली, पानी सप्लाई, कूड़ा संग्रह, पार्किंग, सम्पत्ति कर, बस टिकट, 'स्मार्ट' शुल्क इत्यादि से आय बढ़ानी है तो हर सुविधा के इस्तेमाल पर नज़र रखनी होगी, मुनाफे का चश्मा हमेशा पहनना पड़ेगा, और रकम को कड़ाई से वसूलना पड़ेगा। यह कठोर रूप चयनित प्रतिनिधियों की जवाबदेह नगर पालिका नहीं अपना सकती है, इसलिए यह ज़िम्मेदारी 'स्मार्ट' कम्पनी को सौंपी जाएगी।

शायद इसी लिए 'स्मार्ट' के कई मतलब होते हैं। शहर 'स्मार्ट' होगा तो चमकेगा। नागरिक 'स्मार्ट' होंगे तभी उनमें उपभोगिता जगेगी और वे उसकी कीमत अदा कर पाएंगे। यंत्र 'स्मार्ट' होंगे तो वे हर उपभोक्ता और हर सुविधा के ऊपर नज़र रख पाएंगे। व्यवस्था 'स्मार्ट' होगी तो पूँजी का निवेश भी कर पाएगी और वसूली भी। कम्पनी राज के 'स्मार्ट' होने का सूचक उसकी होशियारी में है कि कैसे सारी मलाई हज़म कर जाये। सबसे 'स्मार्ट' वे नीति नियोजक, राजनैतिक नेता, और योजनाकार हैं जो इतनी चतुराई से आम जनता को इस भ्रम में भुला पाते हैं कि 'स्मार्ट' होने में ही उनकी भलाई है। पुरानी लोक कथा 'अंधेर नगरी चौपट राजा' में जिस प्रकार राजा को 'चौपट' की संज्ञा देकर उसकी क्रूरता को अदृश्य किया जाता है, उसी प्रकार शहर को 'स्मार्ट' जामा पहना कर उसकी चमक के पीछे लूट लाभ और लोभ के घिनौने हरकतों को छुपाया जा रहा है। ■

हवा के खिलाफ यहाँ तक

मनीषा मशाल

मेरा नाम मनीषा मशाल है। मैं जमीनी स्तर की जाति-विरोधी कार्यकर्ता, वक्ता और गायक हूं और फिलहाल अखिल भारतीय दलित महिला अधिकार मंच के हरियाणा राज्य की संयोजक हूं। मैं हरियाणा के एक छोटे-से गांव से हूं। आज जहां मैं हूं, वहां पहुंचने के लिए एक दलित स्त्री होने के नाते मुझे बहुत सारी ऐसी मुश्किलों से जूझना पड़ा है, जिन्हें सामान्य स्थितियों में अलग से देखने की जरूरत नहीं समझी जाती। मेरे परिवार का जो अतीत रहा है, उसमें किसी तरह पढ़ाई-लिखाई करने वाली मैं पहली पीढ़ी की लड़की हूं। हालात चाहे जो रहे, लेकिन आज मेरे पास दो डिग्रियां हैं- कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी से महिला अध्ययन (वीमेन स्टडीज) में स्नातकोत्तर और वहीं से जनसंचार में स्नातकोत्तर। और इसी अनुभव से मैं आपको यह बताना चाहती हूं कि #JusticeForRohith के लिए लड़ाई खत्म नहीं हुई है।

जिस दिन मैंने पहली बार रोहित वेमुला की आत्महत्या, उसकी वजहों और पृष्ठभूमि के बारे में सुना, तो मेरे अपने अतीत के संदर्भ मेरी आंखों के सामने नाचने लगे और तब रोहित के लिए मैं गहरे दुःख में चली गई। लेकिन इसके बाद मैं जितना ज़्यादा उसके मेधावी और प्रभावशाली व्यक्ति होने के बारे में जानती गई, मेरा सदमा और गहरा हुआ। यह एक व्यक्ति नहीं, एक सपने, एक उम्मीद का जाना है। मुझे लगा कि अगर हैदराबाद यूनिवर्सिटी तक पहुंचने के रास्ते में जाने कितनी बाधाएं पार करने वाले और हिम्मती मानस वाले रोहित को आत्महत्या करनी पड़ गई तो निश्चित रूप से यह उसकी 'कमजोरी' की वजह से नहीं हुआ, बल्कि उसे अमानवीयता के उस स्तर तक परेशान किया गया, जहां उसके पास लड़ने का कोई विकल्प शायद नहीं बचा था। मैं रोहित की कहानी जानती हूं, क्योंकि यह मेरी अपनी हो सकती थी। मैं भी वहां तक पहुंची हूं। मेरी पढ़ाई के दौरान कई ऐसे मोड़ आए जब मैंने वास्तव में सोचा कि ऐसे अपमानों को सहने से बेहतर है मर जाना। लेकिन मैं बची रही...!

शिक्षा के मेरे अपने अनुभवों को मैं विस्तार में साझा करना चाहती हूं, क्योंकि हम फिलवक्त जहां हैं, इस देश की हमारी जातिवादी शिक्षा प्रणाली की हिंसा के पूर्ण प्रभाव की कल्पना तक नहीं कर पाते हैं। लोग अभी भी आरक्षण और हाशिये के लोगों की 'योग्यता' की कमी के बारे में बहस में लगे हुए हैं। मैं चाहती हूं हम सब पूछें कि आखिर वे किस तरह की शिक्षा हम वंचित तबकों के छात्रों को प्रदान कर रहे

हैं? शिक्षा जो हम लोगों को मर्माहत करने और हमें उनके संस्थानों से बाहर निकाल देने के मकसद से आधे-अधूरे मन का प्रयास है? फौरी और ऊपरी तौर पर कोई तकनीकी वजह गढ़ ली जाती है और जातिगत जहर में डूबे कारणों पर परदा डाल लिया जाता है।

जाति केवल उच्च शिक्षा के क्षेत्र में काम नहीं करती है। यह हमारे जीवन में हर जगह है और बहुत पहले स्कूल में अपना सिर उठाना शुरू कर देती है। जब मैं किंडर-गार्टन में थी, मेरे शिक्षक द्वारा बताया गया था कि मैं 'एक निम्न जाति' से हूं और मुझे कक्षा में सबसे पीछे बैठना चाहिए। उन्होंने चिल्ला कर कहा- 'तुम चूहड़े (वाल्मीकि) की आगे बैठने की हिम्मत कैसे हुई? पीछे जाओ! तुम स्कूल क्यों आती हो? खेतों में घास क्यों नहीं काटती जो तुम्हारा काम है?' इस तरह मुझे पता चला कि मैं किस जाति से हूं। उस समय मैं पूरी तरह से समझ नहीं पाई कि इसका क्या मतलब है, लेकिन जिस तरह से मेरे शिक्षक उत्तेजित हुए और मेरे साथ जैसा व्यवहार किया गया, मुझे अहसास हुआ कि शायद वाल्मीकि होने में कुछ बुरा है। स्कूल के शिक्षकों द्वारा सीखने से हतोत्साहित करना एक ऐसी हकीकत है, जिसे मेरे जैसे जाति-वर्ग की पहली पीढ़ी के शिक्षार्थियों को सामना करना ही पड़ता है। हमारे परिवार खेतों में काम करते हैं। हम समूचे भारत में जाति के चलते जमींदारों के गिरमिटिया रहे हैं। इन 'उत्पीड़कों' के बच्चों के साथ-साथ स्कूल जाना और फिर उनके सामने भी अपमानित किया जाना- एक बर्बर अत्याचार से कम नहीं है। एक बच्चे के रूप में आप मुश्किल से यह समझ सकते हैं, जो मैं कहना चाह रही हूं।

हाई स्कूल तक मेरे साथ यह डराना-धमकाना जारी रहा। शिक्षक मुझे कभी मेरे नाम- यानी मनीषा से संबोधित नहीं करते थे। बल्कि वे मेरी पहचान- निम्न जाति को उजागर करने और मुझे शर्मिंदा करने के लिए नाम बनाते, जैसे 'लेट एडमिशन वाली' या 'ओए बिंदीवाली'। इसके उलट, उच्च जाति के लड़के और लड़कियों को उनके सही नाम से संबोधित किया जाता था। वर्षों से जारी गालियां अब मेरे लिए असहनीय हो चुकी थीं। घर में किसी गंभीर घटना की वजह से एक दिन मैं स्कूल नहीं जा पाई तो दूसरे दिन शिक्षक ने मुझे खूब गालियां सुनाईं। मेरे लिए यह इसलिए भी बर्दाश्त से बाहर था कि मुझे कई बार क्लास में घुसने से भी रोकने वाले मास्टर ने मेरे एक दिन की गैरहाजिरी को मुझे अपमानित करने का बहाना बनाया था। मैंने उनसे पूछ दिया- 'आप केवल मुझे क्यों डांटते हैं? इस ऊंची जाति की लड़की से क्यों नहीं पूछते आप? वह भी तो कल नहीं आई थी?' जब मैंने पहली बार प्रतिवाद किया तो शिक्षक बौखला गया। उसने मेरा बस्ता और किताबें कक्षा के बाहर फेंक दी और मुझे पढ़ाने, परीक्षा लेने और कक्षा में फिर कभी भी बैठने देने से मना कर दिया। लेकिन मुझे अच्छी तरह याद है कि मैंने हार नहीं मानी। मैं रोज स्कूल गई। मैं रोज अपने बैग और किताबों के साथ कक्षा के बाहर बैठती थी और सुनती थी। इसके बावजूद, स्कूल वर्ष के अंत में, उस मास्टर ने मुझे फेल कर दिया।

उच्च शिक्षा संस्थानों के प्रवेश द्वार के आसपास पहुंचने से बहुत पहले ही दलित बच्चे वास्तव में जहरीले जातिवाद से सामना करते हैं। यह पहले से ही सामाजिक पीड़ा से अभिशप्त हमारे परिवारों के अलावा है। इसलिए यह पूछना वाजिब है कि क्या आरक्षण की नीतियां उत्पीड़न की भयावहता को बेअसर करना भी शुरू करती हैं जो मेरे जैसे छात्रों को अन्य छात्रों के साथ प्रतिस्पर्धा करने के लिए पार करना पड़ता है?

खैर, मैंने हाई स्कूल पास किया और कॉलेज के बारे में सोचना शुरू किया, मैं जानती थी यह मुश्किल होगा। मैंने सामाजिक और आर्थिक बाधाओं के लिए अपने आप तैयारी के साथ संघर्ष किया। हालांकि मैं जानती थी कि अगर मैं कॉलेज में एडमिशन नहीं ले पायी तो मेरे विकल्प एक अदद जल्दी शादी और ईंट भट्ठा में काम करने या घास काटने तक सीमित होंगे। मैं जानती थी कि मैं कुछ और अधिक के लिए बनी थी। मैं एक लीडर बनना चाहती थी जो मेरे लोगों के लिए परिस्थिति को बदल सके। इसलिए बड़ी मुश्किल से मैंने लाडवा, हरियाणा में इंदिरा गांधी नेशनल कॉलेज में दाखिला लिया।

कॉलेज के पहले ही दिन, मुझे तुरंत एहसास हुआ कि भारत में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अस्पृश्यता गुपचुप तरीके से, लेकिन अपनी हमलावर शक्ल में मौजूद है। अधिकांश स्टूडेंट दाखिले के बाद जातिगत आधार पर तुरंत समूहों में बंट गए थे। उच्च जाति के विद्यार्थियों ने मेरा नाम पूछने से पहले मेरी जाति पूछी। जब उन्हें पता चला कि मैं एक 'कोटा' (आरक्षण) की छात्रा हूं, तो वे जान गए थे कि उन्हें मेरे साथ क्या करना है। उन्होंने मुझसे बात करने, मेरे साथ नोट्स साझा करने, मेरे साथ अध्ययन करने या मेरे साथ खाना खाने से मना कर दिया। मेरी कक्षा में तीन अन्य

दलित लड़कियों का भी अनुभव यही थी। इस तरह हम चारों दोस्त बन गए और अपने दायरे में ही रहने लगे।

कॉलेज में जिस भेदभाव की शिकार मैं थी, वह सूक्ष्म से लेकर प्रत्यक्ष तक फैला हुआ था। एक एनएसएस (राष्ट्रीय सेवा योजना) शिविर के दौरान, हम लोगों को अपना काम, खाना बनाना और साफ-सफाई करने को कहा गया। जब हम सफ़ाई कर रहे थे, एक उच्च जाति लड़की ने शिकायत किया कि उससे 'चूड़े' और 'चमारों' का काम करवाया जा रहा था। मैं उसके अपशब्दों की रुखाई से अत्यंत आहत हुई और मैंने उस पर जातिवाद का आरोप लगाया। जैसे हमारी बहसें बढ़ीं, प्रोफेसरों ने तार्किक होने के लिए मुझे डांटा, लेकिन उच्च जाति की उस लड़की को सचेत करने का प्रयास तक नहीं किया। उस दिन, एक दलित प्रोफेसर मुझे एक तरफ ले गए और मुझे सांत्वना दी कि 'हमारी लड़ाई इससे भी बड़ी है। हमें बहुत काम करना है। हमें रणनीति के तहत चलना है। इसे जाने दो।'

हालांकि, मेरे पास इन घटनाओं पर क़ानूनी प्रक्रिया करने या राजनीतिक रूप से उनका पता लगाने के लिए बैंडविड्थ नहीं थी, क्योंकि मेरा अधिकांश समय और ऊर्जा मेरे लिए वित्तीय जरूरतों को पूरा करने के प्रयास में लग जाता था। जहां मैं शहरी स्थिति में सुविधापूर्ण उच्च जाति उच्च वर्ग छात्रों द्वारा घिरी हुई थी, मैं बोझों के नए दल के साथ संघर्षरत थी। यहां तक कि छात्रवृत्तियों, मेरे परिवार के साथ भी मुझे दूसरे वर्ष की फीस का भुगतान के लिए बहुत कठिनायों को झेलना पड़ा। मेरा भाई किसी तरह पहले साल के भुगतान के लिए ऋण लेने में कामयाब हो गया था, लेकिन हमारे पास उचित कपड़े, एक अच्छे बैग या यहां तक कि किताबों के लिए भी पर्याप्त पैसा नहीं था। स्थिति इतनी कठिन थी कि प्रति दिन कॉलेज के बाद, मैं घर जल्दी भागती थी ताकि सूट धोने के लिए कुछ समय मिल सके, जिसे मैं अगले दिन पहन सकूं। छात्रों में से कुछ ने मुझे 'फूलों वाली लड़की' (फूल पोशाक वाली लड़की) बुलाना शुरू कर दिया, क्योंकि मैं वही सूट अकसर पहनती थी।

पहले वर्ष के अंत में मैंने सोचा कि अन्य कई दलित स्टूडेंट्स की तरह, जो फीस का भुगतान करने में असमर्थ हैं, मुझे भी कोर्स छोड़ देना होगा। इसी दौरान मेरे चाचा ने मुझे सहायक उपायुक्त सुमिता कटारिया से मिलने जाने को बोला। सुश्री कटारिया एक दलित स्त्री थीं, जिन्होंने जीवन में शिक्षा के लिए कठिन संघर्ष किया था। जब मैं उनसे मिली, मुझे लगता है कि उन्होंने मुझमें अपनी ही छोटी उम्र का बचपन देखा। उन्होंने मेरी फीस का भुगतान करने की पेशकश की और यहां तक कि मुझे कुछ किताबें और एक साइकिल भी खरीद दी। जैसे सुश्री कटारिया मेरी मदद कर रही थीं, मैं जानती थी कि उन्हें अन्य सहयोगियों और ऊंची जाति के शिक्षकों से काफ़ी आलोचना का सामना करना पड़ रहा था जो उनको जाति के आधार पर काम करने का आरोप लगा रहे थे। लेकिन एक साथी दलित स्त्री से सहानुभूति के इस प्रेममय कृत्य ने वास्तव में मुझे उच्चतर शिक्षा का एक असली मौका पाने की गुंजाइश दी।

लेकिन मैं एक 'भाग्यशाली' क्यों थी? मुझे शिक्षित बनने के लिए एक दमनकारी समाज से लड़ना पड़ा। क्या यह अपने आप में पर्याप्त नहीं है? हमारे समाज में वास्तव में जातिवाद का समाधान करने के लिए पहले हमें हमारे स्कूलों में जातिवाद का समाधान करना चाहिए। अन्यथा हम इस प्रणाली को समाप्त करने में असमर्थ होंगे। भाग्य सफलता की गारंटी नहीं होनी चाहिए। हमें हमारी तरह जरूरतमंद दलित विद्यार्थियों के लिए एक सहायता का तंत्र का विकास और व्यवस्था करनी चाहिए, ताकि न केवल उन्हें दाखिला मिले, बल्कि वे कामयाब हो सकें।

कॉलेज में मेरा अनुभव दलित छात्रों के एक विशाल भाग का प्रतिनिधित्व करता है जो JNU या IIT जैसे कुलीन संस्थानों में नहीं जाते। हम अपने गांव-कस्बों के करीब छोटे सरकारी और गैर-सरकारी संस्थानों में जाते हैं। मेरे सहित इन कॉलेजों में, कोई भी अत्याधुनिक प्रयोगशालाएं या केंद्र नहीं हैं। वास्तव में, उनके पास अकसर बहुत ख़स्ताहाल बुनियादी ढांचा और अपर्याप्त विभाग होता है। इसके अलावा, दलित छात्रों को भेदभाव के कारण प्रवेश में नुकसान सहना पड़ता है। शिक्षक और प्रशासन हमें प्रयोगशालाओं में प्रवेश, पुस्तकालय से पुस्तकें प्राप्त करने, नौकरी के अवसरों के लिए छात्रवृत्तियों से लेकर सभी कुछ में हमारे लिए मुश्किलें और बढ़ाते हैं। हमें छात्रवृत्तियों के निकलवाने के लिए,भोजन और अन्य सब के लिए, एक कार्यालय से दूसरे कार्यालय तक हस्ताक्षर के लिए दौड़ाया जाता है। मैंने हमेशा महसूस किया कि हमें जानबूझकर हमारी जरूरतों को पूरा करने के लिए एकदम किनारे पर हताशा में रखा जाता था।

जब तक मैंने परास्नातक (वीमेन स्टडीज) में दाखिला लिया, मुझे अहसास हुआ कि कई मायनों में इन संस्थाओं में अस्तिव बचाए रखने के लिए व्यक्तित्व का लचीलापन और आंबेडकरवादी राजनीति का सशक्तीकरण आवश्यक

है। मैं DAFSI (डॉ अम्बेडकर स्टूडेंट'स फ्रंट ऑफ़ इंडिया) की अध्यक्ष चुनी गईं और दलित स्त्रियों की सक्रियता में गंभीर रूप से सक्रिय हो गयी। लेकिन यहां तक कि एक स्त्री के रूप में भी दलित स्त्री की राजनीति उच्च जाति स्त्री के बरक्स विषम गज्जब! जब दिल्ली में निर्भया से बर्बर बलात्कार की घटना हुई थी, तब मैंने ध्यान दिलाया था कि इस तरह के यौन हिंसा के मामले दलित स्त्रियों के साथ हमेशा होते रहते हैं। लेकिन वैसे मामलों पर वैसी चिंता कभी नहीं देखने को मिलती जो निर्भया को मिली। मैंने उन्हीं दिनों के एक मामले का उल्लेख किया कि एक युवा दलित स्त्री को हरियाणा के जींद में बलात्कार कर मार दिया गया। पूरी कक्षा और शिक्षक यह कह कर मेरा तीव्र विरोध करने लगे कि बलात्कार 'स्त्री मुद्दा है' न कि 'जातिगत मुद्दा'। मैंने यही सोचा कि एक महिला अध्ययन कार्यक्रम (वीमेन स्टडीज़ प्रोग्राम) में समझ का यह सड़ा स्तर था। स्त्री होने का मायने बहुत नहीं था जब वे भी एक दलित स्त्री की कमजोरियों के साथ सहानुभूति नहीं कर सकीं जो गंभीर हिंसा का शिकार हुई थी।

दरअसल, जाति-व्यवस्था से बाहर निकलने की हमारी कोशिशों को समायोजित करने के लिए एक सही संरचना नहीं है। शिक्षा प्राप्त करना हर रोज कई व्यावहारिक समस्याओं को प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, दलित लड़कियों के पास हरियाणा में कई हॉस्टल नहीं हैं। जो हॉस्टल हैं, हमारे पास उनके लिए भुगतान करने का साधन नहीं है। इसका मतलब यह है कि हमें लंबी दूरी की यात्रा करनी पड़ती है। मैं बस से लगभग 100 किमी, प्रति रास्ता 50 किमी की यात्रा करती थी। इस यात्रा से बचने के लिए, कई दलित पुरुष एक समय में कोई दिन के लिए धर्मशाला में रुकते थे। लेकिन हम स्त्रियों को अंधेरा होने से पहले घर वापस भागना पड़ता था। इसका मतलब हमेशा होता था कि हमें एक विशेष समय पर एक विशेष बस में सवार होना पड़ता था। फलस्वरूप, हमारे पास पुस्तकालय में पढने जाने या पाठ्येतर गतिविधियों में भाग लेने के लिए कोई समय नहीं मिलता था। जब हम शाम में वापस घर पहुंचते, दिन खत्म नहीं होता। हमें साफ़-सफाई, खाना बनाना और हमारे भाई-बहन और परिवार के सदस्यों की देखभाल करना भी देखना होता है। हमें यह सब करना और अभी भी कॉलेज में अच्छा प्रदर्शन करना है। मैं अक्सर पूछती हूं- इन दशाओं में दृढ रहना क्या अपने आप में पर्याप्त योग्यता नहीं है?

इस तरह की समस्याएं दलित अभिभावकों को चाहते हुए भी विश्वविद्यालयों में अपनी बेटियों को भेजने से हतोत्साहित करती थीं। कई बार वे कहते थे कि वे अपनी बेटियों के शिक्षित और मारे जाने के बजाय अनपढ़ और जिंदा रखना पसंद करेंगे। स्नातकोत्तर के बाद मैंने ऐसी लड़कियों के परिवार वालों से मुलाकात शुरू कर दी। मैंने उनके माता-पिता को आश्वस्त किया कि वे कुरुक्षेत्र में मेरे दफ्तर में रह सकती हैं और यूनिवर्सिटी में क्लास करने जा सकती हैं। इस तरह वे रोज की लंबी और जोखिम भरे सफर से बच सकीं और अपनी पढ़ाई पर ध्यान केंद्रित कर सकीं। अपने दफ्तर और विश्वविद्यालय परिसर में मैं उनके साथ जाती हूं और रास्ते में कई तरह की सलाह देती रहती हूं, उन्हें अपने सामाजिक कामों के बारे में बताती रहती हूं। मुझे बातें करते या काम करते देख कर उनके भीतर हिम्मत पैदा होती है। मैं बाबा साहेब और उनके संवैधानिक अधिकारों के बारे में जो भी जानती हूं, सब उन सबको भी समझाती हूं। अगर मैं उनके बात-व्यवहार में एक बदलाव देखना शुरू करती हूं, तो वे बोलना शुरू करती हैं। तब मुझे पता चलता है कि वे और अधिक सशक्त और सक्रिय महसूस करने लगी हैं। वास्तव में, मेरा यह मानना है कि उनके लिए असली शिक्षा यह है, वह ढोंग नहीं जो उन्हें हमारे विश्वविद्यालयों में शिक्षा के नाम पर सिखाया जाता है

यह देश अकसर आरक्षण और 'योग्यता' के बारे में बहसों में उलझा रहता है। यहां वे रोहित की तरह के भाइयों के बारे में कई सवाल पूछना चाहते हैं। बड़ी ही बेशर्मी से वे उनकी योग्यता का भी सवाल उठा देते हैं। मैं पूछना चाहती हूं कि ये सवर्ण अपनी योग्यता कहां से प्राप्त करते हैं? उनकी बेहतर योग्यता या उनकी 'बेहतर' जाति से? दलित पुरुष और मेरी जैसी दलित स्त्रियां हमारी ज़िन्दगी में पर्याप्त उत्पीड़न का सामना करते हैं जो किसी भी तथाकथित ऊंची जाति के चेहरे पर महसूस किया जा सकता है। और वे जला कर हड्डियों का ढेर बना देने के लिए पर्याप्त है। फिर भी हम न केवल बचे रहते हैं, बल्कि लगातार पीछे चमकते रहते हैं, एक हाथ बढ़ाने के लिए, एक और बहन, एक और भाई, एक मां, एक प्रेमी को पालने-पोसने के लिए- तब भी जब हम हमारे रास्ते पर सामंती फ़ासीवादी राक्षस को मार डालने के लिए लड़ाई में डूबे हैं। अपनी झूठी बहसें करो। मैं घोषणा कर रही हूं कि एक उज्ज्वल दलित छात्र की तुलना में कोई भी और आत्मा अधिक मेधावी नहीं है।

■

मेरी भारतीयता मेरी पहचान

प्रियदर्शन

अपनी भारतीयता पर मुझे हमेशा एक स्वाभाविक सा गर्व रहा। ऐसा गर्व अपनी मनुष्यता पर भी रहा। हालांकि जीवन में ऐसे मौके भी आए, जब अपनी मनुष्यता और भारतीयता दोनों मुझे संदेह में डालती रही। या जब कभी मैंने मनुष्यता के नाम पर कारोबार और भारतीयता के नाम पर युद्धवाद का विस्तार देखा तब-तब लगा कि मेरी भारतीय पहचान के साथ एक अन्याय हो रहा है। दरअसल मेरे लिए यह सवाल लगातार महत्त्वपूर्ण होता गया है कि जिसे मैं अपनी मानवीय या भारतीय पहचान कहता हूँ, वह क्या चीज़ है। इस भारतीयता की पहचान भी तभी ठीक से होगी, जब मैं अपने भारत को ठीक से पहचान पाऊंगा। या फिर अपनी पहचान को ही ठीक से समझ पाऊंगा।

तो अपनी पहचान और अपनी भारतीयता की शिनाख्त की इस प्रक्रिया को बिल्कुल शुरू से शुरू करें। मेरी प्राथमिक पहचान लोगों के स्तर पर मेरे परिवार से है और मेरा वास्तविक अधिकार बस अपने घर की दहलीज तक है। इस घर के बाहर मैं एक इंच भी ज़मीन घेरता हूँ तो वह अतिक्रमण कहलाएगा। परिवार के भीतर पहचान मां-पिता, बहन-भाई से होती हुई चाचा, मामा, बुआ और उनसे होती हुई दूसरे रिश्तेदारों तक से फैलती जाती है। फिर परिवार के अलावा वह पास-पड़ोस है जो मुझे जानता है या जिसको मैं जानता हूँ। तो घर के बाद मेरी पहचान मेरे मुहल्ले से होती है। मिसाल के तौर पर मेरा घर रांची के किशोर गंज मुहल्ले की एक गली में है। रांची वालों के लिए मैं किशोर गंज का हूँ। बाकी झारखंड वालों के लिए मैं रांची का हो सकता हूँ। झारखंड के बाहर देश के दूसरे राज्यों में मैं या तो पुराना बिहारी या फिर झारखंडी। अगर मैं विदेश जाता हूँ तो फिर मेरी भारतीय पहचान सामने आती है। अमेरिका में बैठकर मैं किसी को खुद को रांची का नहीं बता सकता- मुझे वहां अपनी भारतीय पहचान ही पेश करनी होगी।

मेरी पहचानें और भी हैं। मैं एक पत्रकार हूँ। इस पत्रकारिता के भीतर भी मेरी कई पहचानें हैं। मैं पहले प्रिंट मीडिया का पत्रकार हुआ करता था और अब इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का पत्रकार हूँ। अपने संस्थान के भीतर आउटपुट डेस्क मेरी पहचान है।

कुछ पहचानें मेरे लिए पीछे छूट चुकीं लेकिन अब भी अहमियत रखती हैं। मैं रांची के सेंट लूइस स्कूल के छात्र के रूप में भी याद रखा जाना पसंद करता हूँ। इस स्कूल ने मुझे कुछ बहुत अच्छे दिन और दोस्त दिए। बाद में मैं रांची कॉलेज का छात्र हुआ और यह पहचान भी कई बरस तक मेरे साथ रही। रांची विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग का छात्र रहते हुए भी मैंने कुछ अच्छे गुरु पाए और कुछ अच्छे मित्र बनाए।

अब मैं चाहकर भी उन पहचानों को अपनी वर्तमान पहचान नहीं बना सकता। यह वैसी ही बेतुकी बात होगी जैसी अमेरिका में बैठकर किसी को बताना कि मैं भारतीय, या बिहारी या रांची वाला नहीं, किशोरगंज नाम के मुहल्ले वाला हूँ।

मेरी एक धार्मिक पहचान भी है जिससे आम तौर पर बेखबर रहता हूं। मैं हिंदू हूँ और बचपन में मैंने रामायण, महाभारत सहित दूसरे धार्मिक ग्रंथ भी बांचे हैं जो करुणा सिखाते हैं, बड़ा बनना सिखाते हैं। राम, कृष्ण, शिव या दूसरे चरित्र मुझे किन्हीं देवताओं की तरह नहीं, बल्कि नायकों की तरह छूते हैं, मेरे भीतर करुणा और गर्व का भी संचार करते हैं। लेकिन हाल के दिनों में तथाकथित हिंदूवादी राजनीति- जिसे दरअसल सिर्फ बहुसंख्यकवादी राजनीति कहा जाना चाहिए- ने मेरी हिंदू पहचान के साथ ऐसे खिलवाड़ किए हैं कि खुद को हिंदू बताते मुझे कभी-कभी संकोच होने लगता है।

दरअसल इन सारी पहचानों का ब्योरा बस यह याद दिलाने के लिए दिया है कि हम एक व्यक्ति के तौर पर बहुत सारी पहचानों के साथ जीते हैं। खोजने निकलें तो हमारा रिश्ता न जाने किन अनदेखे मुल्कों के अनदेखे नागरिकों से जुड़ जाए और तोड़ने निकलें तो बिल्कुल घर-परिवार को जुदा कर दें। मेरे मित्र और कवि-पत्रकार चंद्रभूषण की एक कविता रिश्ते के इस विस्तार को लेकर है और वह बिल्कुल जैसे सुदूर अतीत से लेकर सुदूर भूगोल तक हर जगह पसरी हुई मिलती है। 'मिडनाइट्स चिल्ड्रेन में रुश्दी का मुंबइया नायक जब अपनी पहचान बताने बैठता है तो पीछे-पीछे और पीछे जाता चलता है जहां एक समंदर लहरा रहा होता

है और कोली औरतें मछली पकड़ रही होती हैं।

तो ये हमारी पहचानें ही हैं जो हमें बनाती हैं। वे हमें फैलाती भी हैं और सिकोड़ भी देती हैं। हम एक साथ कई पहचानों को लिए चलते हैं। लेकिन जो लोग पहचान की राजनीति करते हैं, वे चाहते हैं कि हम सिर्फ एक ही पहचान से जाने जाएं। वे चाहते हैं कि हम सिर्फ हिंदू या मुसलमान हों, भारतीय या पाकिस्तानी हों। वे यह भी चाहते हैं कि हिंदू सिर्फ अपनी पहचान को लेकर और अपने देश को लेकर गर्व करे, दूसरे धर्म को, दूसरे मुल्क को हिकारत से देखे। लेकिन मनुष्य के रूप में मेरी एक पहचान मुझे ऐसा करने से रोकती है। वह पहचान बताती है कि दरअसल हर धर्म का सम्मान होना चाहिए और किसी भी देश से दुश्मनी नहीं की जानी चाहिए। यह लिखते-लिखते मुझे अचानक अपनी वह सांस्कृतिक पहचान याद आ रही है जो मेरी राष्ट्रीय पहचान से कहीं ज़्यादा पुरानी है और जिसका वास्ता सिंधु घाटी सभ्यता तक से जाता है। हमारे प्रिय कवि अरुण कमल ने लाहौर में जो कुछ महसूस किया, उसे एक कविता में ढ़ाला और लिखा, 'कौन रखेगा याद कि यहां कभी / एक बंदा आया था किताबों के मेले में / जो तेरी खूब़सूरती और दमक / मेहमाननवाज़ी और मोहब्बत से इस क़दर बेचैन रहा / कि हर रोज़ खाने के साथ ज़रा सा बिल्कुल ज़रा सा / सेंधा नमक खाता / और पूछने पर अपना पुश्तैनी घर हड़प्पा बतलाता।'

तो जो पूछने पर हड़प्पा को अपना पुश्तैनी घर बताना चाहे, वह हिंदुस्तान, पाकिस्तान और बांग्लादेश के खांचे में कैसे बंधेगा? बेशक, वह हिंदुस्तानी है लेकिन इस एहसास से भरा हुआ है कि यह पूरा भूभाग- यह पूरा उपमहाद्वीप- उसके पुरखों की सांसों से बना है।

जो लोग यह बात नहीं समझते, धर्म या जाति या राष्ट्र के कठघरों में इंसान को बांधना चाहते हैं, वे अपने धर्म और अपने राष्ट्र दोनों को छोटा कर रहे होते हैं। दुर्भाग्य से ऐसे लोग हर जगह बढ़ रहे हैं जो कहीं इस्लाम को बदनाम कर रहे हैं कहीं पाकिस्तान को नाकाम कर रहे हैं, कहीं अमेरिका को शर्मिंदा कर रहे हैं और कहीं भारत को बेमानी बना रहे हैं।

मेरी भारतीयता और मनुष्यता ऐसे लोगों और संगठनों के प्रति अपना विरोध दर्ज कराती है और अपनी और दूसरों की सारी पहचानों के प्रति संवेदनशील होने की घोषणा करती है। यह लेखक के तौर पर मेरी पहचान है जो बाकी सारी पहचानों से मिलकर बनी है और अब भी बन रही है।

बेमौत मरते सैनिक और थोथा राष्ट्रवाद

अनुराग मोदी

जब, 1965 में एक तरफ, देश की सीमा पर पाकिस्तान के साथ युद्ध हो रहा था; और दूसरी तरफ - देश सूखे और अकाल के संकट से जूझ रहा था। ऐसे समय में, तत्कालीन प्रधानमंत्री, लाल बहादुर शास्त्री ने नारा दिया थाः 'जय-जवान – जय-किसान'। लेकिन, पिछले दो दशकों में भाजपा और मीडिया के कुछ वर्ग ने एक ऐसा उन्माद का माहौल खड़ा कर दिया है, जैसे सैनिकों की मौत पर 'घड़ियाली आंसू' बहाना और बात-बात पर 'भारतमाता की जय' के नारे लगाना भर ही राष्ट्रवाद की असली निशानी रह गया है। माहौल इस हद तक बिगड़ गया है कि कल तक जो किसानों, आदिवासियों और छात्रों की मौत पर सवाल उठाना हर जागरूक नागरिक और नेता का कर्तव्य माना जाता था; वो, आज किसी ना किसी बहाने 'देशद्रोह' करार दे दिया जाता है। आपको मीडिया और सरकार कटघरे में खड़ा कर देती है।

ऐसा लगता है, जैसे देश के निर्माण में लगे आदिवासी; किसान; दलित; मजदूर; अन्य सरकारी कर्मचारी और बाकी लोग आदि जिस काम को अंजाम देते है, ना तो उसमें कोई जान का जोखिम होता है और, ना वो राष्ट्रवाद का हिस्सा होता है।

लेकिन, अगर हम देश निर्माण में लगे किसान; सफाई कर्मचारियों; और मजदूरों आदि की मौत के साथ साथ सैनिकों और अर्ध सैनिक बल की मौत के असली कारणों पर नजर डालेंगे, तो समझ आएगा कि नेतागण 'घड़ियाली आंसू' बहाकर ना सिर्फ इन मुद्दों को छुपाकर सैनिकों की मौत को अपनी ओछी राजनीति के लिए भुनाना चाहते हैं; बल्कि, यह देश के आम नागरिकों का ध्यान असली मुद्दों से भटकाने की साजिश है।

हमें ऐसा आभास कराया जाता है, जैसे सारे सैनिक देश की सीमा की रक्षा करते मारे जाते हैं। लेकिन, अगर हम 12 अगस्त, 2014 को लोकसभा में, तत्कालीन रक्षा मंत्री, अरुण जेटली का बयान देखेः देश की सीमा की रक्षा करते हुए, सीज फायर उल्लंघन में, दस साल (2004-13) में मात्र 27 जवान मारे गए। अब, हम अन्य कारणों से होने वाली सैनिकों की मौत के आंकड़ों को समझे, उसके पहले कुछ अन्य आंकड़ों पर नजर डाले।

हर साल हम जो गंदगी करते है; देश की गटर से उस गंदगी साफ़ करते हुए 22,000 दलित सफाई कर्मचारी मारे जाते हैं - 9 मार्च, राज्यसभा में, भाजपा सांसद तरुण विजय। हर साल अकेले दिल्ली में सीवर साफ़ करते-करते 100 सफाई कर्मचारी मर जाते है; यह कुल 5000 कर्मचारी का 2% है; अब इस प्रतिशत के अनुसार सेना में सैनिकों की मौत होने लगे, तो वो 40 हजार तक पहुच जाएगी। दुख की बात यह है की सफाई कर्मचारीयों इस मौत की कोई कीमत नहीं है; वर्ना यह मौत कोई दुश्मन की गोली से तो होती नहीं है, जिसे उचित सुरक्षा उपाय उपलब्ध करा आसानी से रोका नहीं जा सकता था ।

26 नवम्बर 2012 को, तत्कालीन, रक्षा मंत्री ए. के अंटोनी ने लोकसभा में बताया, 1999 के कारगिल युद्ध में 530 जवान शहीद हुए; वहीं, 2000 से 2012 के बीच 12 साल में 3987 सैनिक मारे गए, जबकि, इस दौरान हमने युद्ध एक भी नहीं लड़ा। वहीं, राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के आंकड़े बताते हैं, 2004-13 के दस सालों में खेत में अनाज उगाने में लगे – 1,58,865 किसान आत्महत्या करने को मजबूर हुए। इस ब्यूरो के 2014 के आंकड़े बताते हैं, 955 मजदूर फैक्ट्री में मशीन पर काम करते हुए; 387 खदान में काम करते हुए; 998 गर्भवती महिला बच्चे को जन्म देते हुए; 946 लोग ठंड लगने से; और 1216 गर्मी में लू लगने से मारे गए। वहीं, रेलवे के आंकड़े बताते हैं– मुम्बई में हर रोज काम पर जाते हुए भीड़ भरी ट्रेन से गिरकर या कटकर 10 लोग मारे जाते हैं।

जितने सैनिक हर साल आतंकवादियों से लड़कर नहीं मरते, उससे ज्यादा आत्महत्या कर मरते है। 22 जुलाई 2014 को तत्कालीन रक्षा मंत्री, अरुण जेटली ने लोकसभा में बताया कि 2009 से 2013 के पांच वर्षो में 597 सैनिकों ने आत्महत्या की; एक सूचना के अधिकार से प्राप्त जानकारी के अनुसारः जम्मू कश्मीर में 2013 में, 24 जवानों ने आत्महत्या की, वहीं 15 जवान आतंकवादियों से मुठभेड़ में मारे गए।

आंतरिक सुरक्षा में लगे केन्द्रीय सशस्त्र पुलिस बल की मौत के बारे में राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो, 2014 के आँकड़े बताते हैं : कुल 1,232 जवान मारे गए, उसमें, मात्र 7.2%, याने 89 मुठभेड़ में; उससे दुगने – 175 आत्महत्या करने के कारण; 396 ट्रेन और सड़क दुर्घटना में और; आधे अन्य कारणों से अस्वाभाविक मौत मारे गए।

सियाचीन में जहाँ उस तरह से कोई सीमा पर खतरा नहीं है; और आजतक कोई युद्ध नहीं लड़ा गया, वहां 1984 से अब तक 869 सैनिक मारे गए; यहाँ हर दिन 6.8 करोड़ रुपए खर्च किए जाने के बावजूद, सैनिकों को मरने वाली ठंड से बचने के पर्याप्त साधन नहीं है। लगभग यही हाल पाकिस्तान का है। इसमें सैनिकों को ठंड से बचने के साधन उपलब्ध कराने वाली कंपनिया जरुर हर साल दोनों देशों से हर साल हजारों करोड़ रुपए कमा रहीं है। यह आग भी उनकी लगाई है।

जब सेना के काम भर को राष्ट्रवाद से जोड़ा जाता है, तो मेरे मन में सवाल उठता है कि इसे नापने का पैमाना क्या होता है? सेना में काम की हालत यह है कि 2009 से 2011 में 25,062 हजार सैन्य-कर्मियों ने असामयिक सेवानिवृत्ति लीः 2009 में 7,499; 2010 में 7,245; 2011 में 10,317। वर्ष 2009 से 2012 तक 2215 सैन्य-अधिकारियों ने असामयिक सेवानिवृत्ति के लिए सरकार को आवेदन दिया; इसमें से 1349 आवेदन मंजूर हुए। अब, हम क्या इसका यह मतलब निकालें कि यह सैन्य अधिकारी और कर्मचारी अब 'राष्ट्रवादी' नहीं रहे? या, यह माने कि वो परेशान होकर अन्य बेहतर तनख्वाह वाले काम में चले गए?

हमारी सेना में 10 हजार से उपर सैनिक नेपाली गोरखा है। जिनकी ईमानदारी और युद्ध क्षमता अतुलनीय है। लेकिन, यह हमारे देश के नागरिक नहीं है; तो फिर इनका राष्ट्रवाद कैसे तय होता है?

हाल ही में, मीडिया में एक समाचार था– बिहार में सेना में भर्ती के लिए एक हजार युवा आए जिन्हें मात्र चड्डी में जमीन पर खुले आसमान के नीचे बैठकर परीक्षा दिलवाई गई; जिससे वो नकल ना कर पाएं। हर साल जब सेना में 100 जवान के पद निकलते हैं; तो उसके लिए 10 हजार बेरोजगार युवा आवेदन करते हैं। हर बार भगदड़ मचती है; इसमें अनेक युवा घायल भी होते हैं। अभी, 17 मार्च को हैदराबाद में ही हुई एक भगदड़ में घायल 4 युवा गंभीर हालत में हैं। अब इन बेरोजगार युवाओं की देशभक्ति और राष्ट्रवाद नापने का कौन सा पैमाना सरकार के पास है-

मालूम नहीं?

प्रदेश का देश की जनसंख्या और सेना में भर्ती का अनुपात इस प्रकार है– हिमाचल प्रदेश 0.6 -4.66; पंजाब 2.4 – 16.6; हरियाणा 2.2 – 7.02। वहीं, हर साल इंडियन मिलिट्री अकादमी में पास होने वाले अधिकारियों में सबसे ज्यादा उत्तर प्रदेश और उसके बाद हरियाणा के युवा होते हैं; जैसे 2013 में उत्तर प्रदेश से 121; हरियाणा से 62; और गुजरात से मात्र एक। अब, क्या इसका यह मतलब है कि हम राज्यों को उनके यहाँ सेना में भर्ती के अनुपात में राष्ट्रवादी माने? और, यह समझें कि अन्य राज्यों के मुकाबले गुजरात के लोग राष्ट्रवादी नहीं हैं या, हम यह समझे कि वो लोग सेना में जाने के बजाए कोई और काम कर अपना पेट भरना चाहते हैं; और देश के निर्माण में अपनी हिस्सेदारी निभाते हैं।

सेवा निवृत्त सैनिकों ने अपनी पेंशन को लेकर लम्बा आंदोलन किया। इसमें से एक गुट तो अभी भी आंदोलन पर है। अब, क्या हम यह कहें कि वो सेना से सेवानिवृत्त होने के बाद अपने 'राष्ट्रवाद' का ईनाम मांग रहे? या हम यह मानें कि अन्य सरकारी कर्मचारियों की तरह उन्हें अपनी मांगों को लेकर आन्दोलन करने का अधिकार है।

इस थोथे राष्ट्रवाद ने हमें और हमारे पड़ोसी गरीब मुल्कों पाकिस्तान और चीन को इस हथियारों की दौड़ में लगा दिया, 2015 में– जहाँ चीन ने अपने रक्षा बजट में 10% की बढ़ोत्तरी की; पाकिस्तान ने 11.6% और भारत ने 11%। जबकि, यह देश गरीबी पर क्रमशः 83; 134; और 125 वें नम्बर पर थे। वहीं 2015 में अमेरिका अपने सैन्य खर्चे में 6.5 कमी लाया। हमें यह समझना होगा की भारत और पाकिस्तान एक समय में एक थे, जिसे परिस्थिति ने अलग किया। हमारे पड़ोसीः चीन, श्रीलंका; और नेपाल उस धर्म को मानते हैं, जिसका जन्म हमारे यहाँ हुआ था।

आज ज़रूरत थोथे राष्ट्रवाद और सैनिकों की मौत पर उन्माद भड़काने से बचने की है। उनकी और हमारी भलाई उनके और हमारे 'राष्ट्रवाद' को टकराने में नहीं है, बल्कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सूत्र पर अमल करते हुए और अपने पड़ोसियों से रिश्ते सुधारने में है और सैन्य समान बेचने वाले देशों की चालों से बचने की है। ना पाकिस्तान और चीन की जनता हथियार खा सकती है; और ना हम।

समाजवादी जन परिषद, कोठी बाजार, बैतूल (म. प्र.)

■

जनेवि में राजकीय दमन : आँखों देखी

इकबाल अभिमन्यु

10 फरवरी की रात, दस दिन तक मध्यप्रदेश के एक छोटे कसबे रामपुरा के आसपास के गाँवों में सर्वे करने के बाद विदाई की बेला में हम युवा साथी गा-बजा रहे थे। अचानक दोस्त संदीप ने कहा 'अरे इकबाल भाई, आपके जे एन यू में क्या हो गया?' मैं कई दिनों से समाचार माध्यमों से कटा हुआ था- मेरे पास स्मार्टफोन, व्हाट्सऐप वगैरह भी नहीं हैं। इसलिए मैं चौंका – मैनें कहा – ''क्या हुआ है भाई?'' तो उसने कहा कि वहाँ कुछ बहुत गलत हो रहा है, देश को तोड़ने की बात हो रही है, देशद्रोह हो रहा है। मैंने पूछा 'कैसे पता?' तो उसने कहा कि मीडिया में वीडियो चल रहा है, अफज़ल गुरु के लिए कार्यक्रम हुआ है वगैरह। मैनें इसे ज्यादा तूल नहीं दिया, क्योंकि इससे पहले भी मीडिया के कुछ हिस्सों में जे एन यू को लेकर दुष्प्रचार चलता रहा है, व पहले भी एबीवीपी अनेक कार्यक्रमों में हंगामा करती रही है।

अगले दिन तक फेसबुक एवं अन्य माध्यमों से मुझे धीरे धीरे समझ में आने लगा कि कैसे इस घटना ने एक सुनियोजित अभियान का रूप ले लिया है। टीवी चैनलों पे एकतरफा हमले होने लगे, पूरे जे एन यू को देशद्रोहियों का 'अड्डा' और आतंकवादियों का 'गढ़' बताने के लिए मीडिया कर्मी, चिल्लाने लगे। जो छात्र अपनी बात रखने स्टूडियो पहुंचे उन्हें सुना नहीं गया और वहीं फैसला कर दिया गया कि वे जो कह रहे हैं वह देशद्रोह है। कुछ वीडियो, उनके संपादित हिस्से बार बार चलाये गए, जिनमें से ज्यादातर बाद में तोड़े-मरोड़े हुए निकले। चूंकि चैनलों का मैनेजमेंट सत्ता और बाज़ार के मुनाफे के संतुलन पर टिका होता है, उन्हें यह मौका

ठीक लगा एक ऐसे समूह पर हमला बोलने का, जिसकी आवाज़ बाज़ार और सत्ता के खिलाफ बुलंद हो रही थी।

12 तारीख को ट्रेन में दिल्ली जाते हुए, मेरा दिल बैठा जा रहा था; मैं देख चुका था कि चैनल मेरे विश्वविद्यालय के प्रति एक उन्माद का माहौल बनाने में सफल रहे हैं। लोगों की आपसी बातचीत में 'जेएनयू' और 'देशद्रोह' जैसे जुमले सुनने को मिल रहे थे। तब अचानक लैपटॉप में फेसबुक से पता चला और फिर मैनें घबराहट में अनेकों दोस्तों को फ़ोन लगाए तो पता चला कि कैम्पस में पुलिस की रेड हो रही है, सादे भेष में पुलिस वाले पूरे कैम्पस में फैल गए हैं, अनेकों होस्टलों में छापे पड़े हैं – हमारे छात्रसंघ के अध्यक्ष कन्हैया कुमार को पुलिस उठाकर ले गयी है। विश्वविद्यालय प्रशासन ने पुलिस को खुला आमंत्रण दिया है और छात्रों के नाम-पते भी सौंपे हैं। मेरे दिमाग में एक ही शब्द गूंजने लगा – 'आपातकाल', क्यूंकि इसी कैम्पस के किस्से अपने पिता (वे यहीं पढ़े थे) और उनके दोस्तों से सुनते हुए मुझे पता चला था कि आपातकाल में कैसे पुलिस रातों रात छापे मारकर छात्रों को गिरफ्तार कर लेती थी और उन्हें भागकर इधर उधर छुपना पड़ता था। भय और अविश्वास का माहौल पूरे कैम्पस पर छाया रहता था, आज शायद फिर वैसी ही घड़ी आयी थी। मैनें अपनी मां को फोन किया और अपने डर और गुस्से के बारे में बताया। मेरी मां, जो खुद एक कार्यकर्ता है और देश दुनिया के मामलों पर पकड़ रखती है, उतनी ही गुस्सा हुई जितना मैं, उन्होंने कहा 'क्या मुझे भी वे गिरफ्तार कर लेंगे? मैं भी कई बातों पर अलग राय रखती हूँ।'

अनेकों फोन आये, मुझसे पूछा गया कि क्या हो रहा है? लोगों का गुस्सा और असमंजस मुझ तक पहुंचा जिसका मैं यही जवाब दे सकता था कि अभी तो मैं ट्रेन में हूँ। कैम्पस में जिसे भी फोन किया वह यही बता पाया कि कन्हैया गिरफ्तार हो गया है, और छापे पड़े हैं। इससे ज्यादा जानकारी किसी को नहीं थी।

मन ही मन हैरान परेशान मैंने किसी तरह रात काटी और सुबह 13 तारीख को जे एन यू पहुंचा। फिर बात करते – करते, शाम को प्रशासनिक भवन पहुँचने तक बातें साफ़ हुईं। उस दिन कुछ नेता भी पहुंचे, कैम्पस के बाहर से, अखबारों में ख़बरें पढीं, चैनल तो न देखने का फैसला मैं ले चुका था। ये पता चला कि नौ फरवरी को एक कार्यक्रम - वहाँ एबीवीपी के हंगामे, उसकी शिकायत पर भाजपा सांसद के किये एफ़ आई आर और सबसे ज्यादा मीडिया के अभियान के चलते पूरे जे एन यू को बंद करने की मांग हो रही है, गिरफ्तारियां हुई हैं, देशद्रोह के मुक़दमे दायर किये गए हैं, कन्हैया गिरफ्तार है और बाकी कई छात्र छुपते फिर रहे हैं। जे एन यू के रजिस्ट्रार और उपकुलपति (वीसी) ने आठ छात्रों को जांच से पहले ही निलंबित कर दिया है और एक ऐसी जांच समिति बनायी है जिसमें उनके पसंदीदा लोग हैं, न कि अलग अलग संस्थानों के शिक्षक। मीटिंग में पहुँचने के बाद जब वहाँ उमड़ते छात्रों को देखा तो कुछ राहत मिली, बिना किसी अभियान या आह्वान के करीब दो-ढाई हज़ार से ज्यादा छात्र छात्राएं वहाँ जमा थे, (इससे पहले पिछली रात को जे एन यू शिक्षक संघ के आह्वान पर आये जुलूस में भी सैकड़ों छात्र पहुंचे थे)। चेहरों पर हवाइयां उड़ रही थीं। सब रुआंसे और चुप थे, हालांकि नारे जरूर लगाते थे जब छात्रसंघ और हमारे नेता शुरुआत करते। सबके घर से फोन आये थे, मां – बाप ने पूछताछ की थी और डांटा था, (कई छात्रों की घरवालों से बातचीत बंद हो गयी) पढ़ाई –लिखाई ठप पड़ी थी, सोशल मीडिया पर गंदी गंदी गालियाँ पड़ रही थीं। अगर आप जे एन यू से हैं, तो फिर आप वामपंथी हों, समाजवादी हों, या कांग्रेसी, या दक्षिणपंथी, आप राजनैतिक हों या करियर पर ध्यान देने वाले, लड़के हों या लडकी, घटना की जानकारी हो या न हो; कोई कुछ सुनने को तैयार नहीं था, आप देशद्रोही घोषित कर दिए गए थे। आपकी यूनिवर्सिटी को बंद करने की मांग न केवल सोशल मीडिया बल्कि अखबारों में कई 'विचारक' करने लगे थे। आपकी पढ़ाई, मेहनत, विचार, सब को एक झटके में ख़त्म कर दिया जाना संभव लग रहा था। यही कारण है कि उस दिन और उसके बाद से हर रोज प्रशासनिक भवन की उन सीढ़ियों पर (जो अब कन्हैया के भाषण के दिखाए जाने के बाद बहुत पहचानी जाने लगी हैं)। मैंने बहुत से चेहरों को देखा जो पहली बार किसी राजनैतिक बहस का हिस्सा बनने आये थे, जो अब तक सिर्फ कक्षाओं और लाइब्रेरी में ही दिखाई देते थे। मैनें शिक्षकों को देखा जो अपनी नौकरियों, और कक्षाओं की चिंता छोड़कर हमारे साथ खड़े थे, मैनें कई कर्मचारियों को भी देखा। सत्ता, मीडिया और राष्ट्रवाद के नाम पर मुनाफा कमाने वाली राजनीति ने एक ही झटके में हम सब को एक तरफ खडा कर दिया था और खुद को दूसरी तरफ। उस दिन के जमावड़े में लगा कि चलो कुछ लोग तो अपने साथ हैं, ऐसा नहीं है कि मैं अकेला ही असहाय, निहत्था कैमरों और पुलिस की बन्दूक की नोक पर खडा कर दिया गया हूँ, मुझे बिना कुछ कहने का मौका दिए बस चिल्लाया जा रहा है 'देशद्रोही !!' 'देशद्रोही !!' 'गद्दार!!'

इसके बावजूद दिनों दिन हमले बढ़ते गए। गृहमंत्री ने हमें हाफ़िज़ सईद से जोड़ा, किसी साध्वी ने हमारी फंडिंग को पाकिस्तान से आने वाला बताया, और हमारी जुबां काटने, हमें गोली मारने की आवाजें मुख्यधारा के मीडिया में जगह पाने लगीं, (जो कन्हैया के भाषण के बाद तक जारी हैं)। अचानक जे एन यू के छात्रों पर खर्च होने वाली सब्सिडी के आंकड़े बताये जाने लगे – देखो ये 'हमारा' पैसा है जिस पर 'ये' पढ़ते हैं। शायद यह सही मौका था कि कम फीस वाले आख़िरी केन्द्रीय विश्वविद्यालय की फीस भी बढ़वाई जा सकती है, ताकि गरीब, पिछड़े, दलित और दूर दराज़ से आने वाले छात्र न पढ़ पायें। उन्हीं के बच्चे महंगे और निजी विश्वविद्यालयों में जाएँ, जो ट्विटर और मीडिया का मानस बनाने की क्षमता रखते हैं, जिन्हें कम फीस खटकती है, और जो ये भूल जाते हैं कि टैक्स गरीब भी देते हैं और सब्सिडी उद्योगपतियों को भी मिलती है। वे टीवी के एंकर और खाए पिए विशेषज्ञ हमारे दुश्मन बन गए, जो यहाँ की राजनीति, बहस, और संवाद को या तो नहीं जानते थे, या उसे अपने लिए खतरा मानते थे।

रोज नए नए बयान आते थे, रोज़ नए नए छात्रों की 'आतंकी प्रोफाइल' बनायी जाती थी। बहुत से कम समझ वाले या कम पढ़े लिखे माँ बाप अपने बच्चों को फोन कर करके पूछते थे – ''क्या जे एन यू में बम बन रहा है?'' आखिर 'मास्टरमाइण्ड' और 'टेरर लिंक्स' जैसी शब्दावली का यही असर होना था।

हमने अगले दिन मानव श्रृंखला बनायी, जिसमें फिर तीन हजार छात्र और शिक्षक जुटे, बार बार कहा गया कि नारों से सबकी सहमति नहीं है, लेकिन नारे राष्ट्रद्रोह नहीं है, हम आतंकवादी नहीं हैं। लेकिन नतीजा कुछ निकलता नहीं दिखता था। मीडिया और सरकार का दुश्चक्र तोड़ना नामुमकिन सा लग रहा था। सारा समय सर घूमता रहता, रात को नींद नहीं आती, एक दूसरे को मिलते समय छात्र यही पूछते 'क्या हो रहा है?' 'अब आगे क्या होगा?'। सिर्फ एक ही जगह थोड़ा सुकून मिलता – उन सीढ़ियों के आगे, जहां पता लगता कि धीरे धीरे बाहर भी लोग हमारे समर्थन में बोलने लगे हैं, डर- डर कर ही सही। इसमें दूसरे विश्वविद्यालयों के छात्र और शिक्षक खुलकर सामने आये, जिन्हें पता था कि अगर इस हमले का विरोध नहीं किया गया तो कल उन पर भी दमन हो सकता है, इसके अलावा वे भी सामने आये जो पहले से ही सरकार और मीडिया के दमन से परेशान थे, अलग अलग रूपों में इसे झेल चुके थे। कुछ अखबारों में भी अन्य आवाजों को जगह मिलनी शुरू हुई, जिसमें दूसरा पक्ष लोग रख पा रहे थे।

इसके बाद बड़ा घटनाक्रम हुआ कि कन्हैया को अदालत में पेश किये जाने और सुनवाई को देखने गए लोगों, छात्रों और शिक्षकों पर काले कोट पहने लोगों और कुछ राजनैतिक कार्यकर्ताओं का भी हमला और मारपीट हुई, साथ में मीडियाकर्मियों पर भी। इससे हम और सदमे में पहुँच गए। आखिर अदालत में भी सुनवाई नहीं, वहाँ भी घूंसों की भाषा चलने लगी? पुलिस मूकदर्शक थी, वही पुलिस जो हमें राष्ट्रद्रोही ठहराने के लिए अदालती कार्यवाही से भी पहले बार बार मीडिया में बयान दे रही थी, सबूत हैं, केस सही है, आदि साबित करने में लगी हुई थी। जब तक इससे उबर पाते, अगले दिन फिर उन्हीं लोगों ने बिना किसी डर और पछतावे के कन्हैया को पीटा और एक बार फिर पुलिस इस पर कोई कार्यवाही करने में नाकाम रही और कार्यवाही करने की इच्छाशक्ति भी सरकार और पुलिस ने नहीं दिखाई। (बल्कि आज भी इस मामले में सारे आरोपी खुले घूम रहे हैं, उन्हें कोई बाधा नहीं है, ज्यादातर गिरफ्तार भी नहीं हुए) शायद सरकार और कट्टरपंथी ताकतों से जुड़े संगठनों के उकसावे पर रोज जे एन यू के मुख्य द्वार पर कई लोग झंडा लहराते जमा हो जाते, मुट्ठियाँ तानते, बैरिकेड लांघ कर अन्दर घुसने की धमकी देते, कैमरों पर चीख चीख कर नकली और उन्मादी राष्ट्रवाद का प्रदर्शन करते। गेट बंद रहता, अन्दर बसें नहीं आती जाती। यह गर्व का विषय हो चला था कि जे एन यू के तथाकथित देशद्रोहियों को मार देने, उखाड़ देने और देख लेने की धमकी दी जाए। इस माहौल में जीना सच में वही समझ सकता है जिसने यह झेला हो।

आखिरकार देश के कुछ लोगों को समझ में आने लगा कि जे एन यू के साथ हो रहा व्यवहार ठीक नहीं है, सामान्य नहीं है। लोकतंत्र और न्याय में मारपीट और मनमानी की छूट नहीं दी जा सकती। आवाजें बढीं और आखिरकार टीवी मीडिया में भी रविश कुमार के वापस आने के साथ एक आवाज़ तो आयी जो हमारा पक्ष भी देख पा रही थे। इस मारपीट को कोई भी सही ठहरा पाने में सक्षम नहीं था। अट्ठारह फरवरी को हिम्मत जुटाकर हम कैम्पस के बाहर निकले। (इससे पहले जे एन यू के खिलाफ दिल्ली में बेहद गंदा माहौल था, खुले आम जे एन यू का नाम सुनते ही ताने और धमकियां दी जाती थीं, जश्न – ए – रेख्ता नामक उर्दू के सरकारी कार्यक्रम में से दिल्ली पुलिस ने तीन छात्रों को सिर्फ इसलिए उठा लिया था क्यूंकि वो 'जे एन यू जैसे दिखते थे – उनकी दाढी थी और उनके बैग से एक

लाल झंडा निकला था'; और बहुत दबाव के बाद शाम को उनको 'पूछताछ के बाद' छोड़ा गया था। किराए पर बाहर रह रहे जे एन यू के कुछ छात्रों को मकान मालिकों ने घर खाली करने या पुलिस से फिर से वेरिफिकेशन करवाने को कहा था।) जब बाहर निकले तो देखा कि एक सैलाब सा आया, चार हज़ार छात्र कैम्पस से और करीब आठ दस हज़ार लोग बाहर से आये थे। हमने मंडी हाउस से संसद की तरफ कूच किया, टीवी चैनल वालों को गुलाब देकर उनकी समृद्धि की कामना की गयी, अनेकों झंडे लहराए गए, जिनमें लाल, नीला और तिरंगा शामिल थे। हमने अपनी तख्तियों पर लिखा कि कन्हैया, उमर, अनिर्बान, आशुतोष, रमा या और भी कोई न तो देशद्रोही है, न आतंकवादी। हम छात्र हैं जो आपस में बहस करते हैं, जो देश और समाज के मुद्दों की समझ रखते हैं। जो रोहित वेमुला की मौत के कारणों को ख़त्म करना चाहते हैं, उस साज़िश को बेनकाब करना चाहते हैं। जो स्कालरशिप बंद करने के खिलाफ सड़क पर उतरते हैं। राजद्रोह की धारा अक्सर ऐसे ही लोगों पर लगाई जाती है जो सरकार के लिए असुविधाजनक सचों को बोलने लगते हैं। इसके बाद का आन्दोलन एक इतिहास सा है, बाकी छात्र भी निकलकर बाहर आये और अपने बयान या गिरफ्तारियां पुलिस को दीं। उनको कुछ भरोसा आया कि इस देश में न्याय होने की गुंजाइश अभी भी बाकी है क्यूंकि लोग गुंडागर्दी और तानाशाही के खिलाफ एकजुट हो सकते हैं। दो और बड़े जुलूस हुए, एक रोहित वेमुला के मुद्दे को जोड़ते हुए और एक कन्हैया की जमानत को लेकर।

अब हम रोज राष्ट्र और राष्ट्रवाद, इस देश के ज्वलंत मुद्दों, चाहे वो आर्थिक हों, राजनैतिक हों या सामजिक, सभी पर खुले आसमान के नीचे बहस करते हैं, वक्ताओं को बुलाते हैं, जिनमें अलग अलग धारा के लोग होते हैं, आपस में बहस भी होती है। हम यह कहना चाहते हैं कि हमारा राष्ट्र हम सभी का है, जिस पर बात करने की भी जरूरत है, सरकार से और सत्ता से सवाल पूछने की भी जरूरत है। यही काम हम पहले भी कर रहे थे, जिसके कारण हम पर दमन हुआ है। कन्हैया की जमानत के बाद उसके भाषण को मजबूरी में सभी चैनलों और मीडिया को दिखाना पड़ा, क्यूंकि हमारी आवाज़ को नज़रंदाज़ करना नामुमकिन था। उस भाषण ने दिमागों पर जमे कोहरे को कुछ हद तक साफ़ किया है, हालांकि इस पूरे मामले में जे एन यू, छात्रों और छात्र राजनीति के प्रति पैदा की गयी घृणा को हटाने में शायद सालों की मेहनत लगेगी। बात साफ़ हो गयी कि सरकार और व्यवस्था की बुराइयों का विरोध करना, हर एक मुद्दे पर खुली बहस कर राय बनाना, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की बात करना आज के समय में इतना खतरनाक है कि आपको जेल में डाला जा सकता है, पीटा जा सकता है और बदनाम किया जा सकता है। हम जुलूस भी निकलते रहेंगे, इस लड़ाई को देश की बाकी लडाइयों से जोड़ा जायेगा, प्रतिरोध की एकता बनाने की कोशिश होगी।

हमारा संघर्ष तब तक चलेगा जब तक सभी साथी रिहा नहीं होते, सभी मुक़दमे वापस नहीं होते, विश्वविद्यालय से निलंबित छात्रों को ससम्मान वापस नहीं लिया जाता, उन अधिकारियों पर कार्यवाही नहीं होती जो हमारे नियमों पर चलने, साख बचाने के बजाय पुलिस और सत्ता के इशारों पर कार्यवाही कर रहे थे और बयान दे रहे थे। पुलिस, मीडिया के एक बड़े हिस्से और हमला करने वाले तथाकथित वकीलों – राजनेताओं पर भी कार्यवाही होनी चाहिए। यह भी स्पष्ट है कि एबीवीपी ने पहले से ही मीडिया को बुला लिया था और उनकी योजना जे एन यू प्रशासन के साथ मिलकर कुछ छात्रों पर दमन करवाने और विश्वविद्यालय के आंदोलित और प्रगतिशील चरित्र को ख़त्म करने की थी। यह नया नहीं है, एफ़टीआईआई, हैदराबाद केन्द्रीय विश्विद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, अलीगढ़, चेन्नई आइआइटी। यह सूची लम्बी होती जाती है। जहां से भी अन्याय, शिक्षा के बाजारीकरण के खात्मे और सरकार के छात्रविरोधी क़दमों पर आवाज़ उठी है, उसके जवाब में सरकार, सरकारी मशीनरी और सत्ताधारी पार्टी से जुड़े संगठनों ने अलग अलग बहानों से वहां हमले किये हैं।

मेरी व्यक्तिगत समझ इस आन्दोलन से और मजबूत हुई है, एक समूह के रूप में भी हम सब और परिपक्व हो गए हैं। इस आन्दोलन ने कैम्पस के ज्यादातर छात्रों का राजनीतिकरण किया है, यह शायद इससे पाया हुआ हमारा एकमात्र हासिल है। आखिर इस देश के सिर्फ 6% लोग ही उच्च शिक्षा संस्थानों तक पहुँच पाते हैं, यह हमारी एक प्रिविलेज (विशेष सुविधा) है। हम ही हैं जो न सिर्फ पढ़-लिखकर, बहस करके, सोचकर यह तय कर सकते हैं कि देश और समाज में क्या ठीक नहीं हो रहा है और उसे बेहतर कैसे किया जा सकता है। हम कठिन और नए सवालों पर बहस कर सकते हैं। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि आगे चलकर हमारे ही कन्धों पर यह ज़िम्मेदारी है कि हम यहाँ से बाहर निकलने और देश के हर दबे- कुचले, गरीब,

शोषित और संघर्षशील तबके के साथ खड़े हों, यह हमारी नैतिक और राजनैतिक जिम्मेदारी है। शिक्षा का मतलब अगर सिर्फ करियर और पैसा कमाना होता तो वह दुकानों में मिल सकती थी, वैसा ही आजकल चलन भी चल पडा है। शिक्षा का मकसद वास्तव में इस ज्ञान, सुविधाओं को हर एक तक पहुँचाना है, जो हमें मिला है; उसे समाज को लौटाना है, यह समझ अब हममें आ रही हैं।

कमरा नं. 2, ब्रह्मपुत्र छात्रावास, जे एन यू में बैठा हुआ, इसीलिये मैं तैयार हूँ, कल फिर उन्हीं सीढ़ियों पर जाने के लिए, भाषण देने, गाना गाने, परचा बांटने और पोस्टर बनाने के लिए; आगे देश में बाहर भी ऐसे मौकों पर मौजूद रहने के लिए जहां जाना शायद हमारी सरकार को पसंद न आये; लेकिन मुझे मालूम है कि मेरे साथ अनेकों लोग खड़े होंगे, जो सोचने- समझने, पढने-लड़ने के महत्त्व को समझते हैं।

कमरा नं. 2(E), ब्रह्मपुत्र होस्टल, जे एन यू

दिल्ली की अम्बेडकर यूनिवर्सिटी में छात्र राजनीति की सम्भावना

अनूप

पिछला एक-डेढ़ साल देश भर की छात्र राजनीति के लिए उथल-पुथल का समय रहा है। एक के बाद एक विश्वविद्यालयों में मचते हुए कोहराम, कड़ी दर कड़ी जुड़ते हुए, एक लम्बी श्रृंखला बनाते गए। वर्तमान में देखने पर पिछले एक-डेढ़ साल का समय छात्र आंदोलनों के लगातार आगे बढ़ते जाने और गहन होते जाने का समय दिखता है। इन तमाम आंदोलनों की पृष्ठभूमि को देखें तो यह पायेंगे कि यह सभी छात्र संघर्ष, अपने-अपने परिसरों के सवालों-समस्याओं से जूझते हुए और उन्हीं को संदर्भित करते हुए अपने आंदोलनों की रुपरेखा तैयार करते गए। फिर वो चाहे दक्षिणपंथी प्रशासनिक प्रमुख की नियुक्ति से उपजा एफ़.टी.आई.आई. का लम्बा संघर्ष रहा हो, या महिला उत्पीड़न पर यूनिवर्सिटी प्रशासन को चुनौती देता जादवपुर यूनिवर्सिटी का आन्दोलन। ऐसे कितने ही आन्दोलन अपने-अपने परिसरों की रूपगत विशिष्टता के अनुसार बनते-बदलते रहे हैं। दिल्ली के कॉलेज ऑफ़ आर्ट में चला छात्र संघर्ष इसी कड़ी में स्थानीय समस्या और सवाल के इर्द-गिर्द जमा होती राजनीतिक चेतना का ही स्पष्ट उदाहरण है। इन तमाम स्थानीय सवालों-समस्याओं और आंदोलनों की गति से उर्जावान दिल्ली की छात्र राजनीति की दिशा भी तय होती रही है। साथ ही दिल्ली की छात्र राजनीति में नए केंद्र भी उभरे, जो दिल्ली की प्रगतिशील छात्र और युवा राजनीति के विभिन्न केन्द्रों और कार्यकर्ताओं को करीब भी लेकर आए। अम्बेडकर यूनिवर्सिटी की आंतरिक राजनीति और बाहरी छात्र संघर्षों में यूनिवर्सिटी छात्रों की मौजूदगी को इसी रुपरेखा द्वारा बेहतर ढंग से समझा जा सकता है।

जैसा कि ऊपर बताने की कोशिश की गयी है, कि अलग-अलग छात्र संघर्षों में स्थानीय सवालों-समस्याओं की अहम भूमिका रही है। लेकिन दिल्ली से शुरू हुआ ओक्युपाई यू.जी.सी. आन्दोलन एम-फिल और पी.एच.डी. की छात्रवृत्ति को बंद करने के मुद्दे से उपजा ऐसा आन्दोलन बना जिसने तमाम स्थानीय सवालों-समस्याओं को एक मंच पर एकत्रित किया। विभिन्न स्थानीय समस्याओं-सवालों को एक केंद्र प्रदान करता यह आन्दोलन, विभिन्न यूनिवर्सिटी छात्रों के बीच संवाद का भी माध्यम बना। ओक्युपाई यू.जी.सी. आन्दोलन समय के लम्बे अन्तराल में फैला ऐसा आन्दोलन बनकर उभरा जिसने कैंपस के भीतर के कई छात्रों (संगठन से जुड़े और साथ ही साथ स्वतंत्र छात्र) को एक साथ समूहगत किया और साथ ही विभिन्न परिसरों के छात्रों को भी एक-दुसरे को जानने-समझने का अवसर दिया। इस प्रकार इस आन्दोलन ने विभिन्न स्थानीय विशिष्टताओं की समानताओं को समझने का अवसर ज़रूर दिया।

अम्बेडकर यूनिवर्सिटी की छात्र राजनीति के लिए भी यह पहला अवसर था कि यूनिवर्सिटी परिसर से बाहर राजनीतिक अभिव्यक्ति द्वारा खुद को संगठित और बेहतर ढंग से व्यवस्थित किया जा सके। जैसे कि ऊपर मैंने ज़िक्र किया ही है, कि देश भर में हुए विभिन्न छात्र संघर्ष जहाँ एक ओर स्थानीय सवालों-समस्याओं द्वारा गतिमान और संगठित हुए, वहीं इनके इर्द-गिर्द बनने वाली राजनीतिक चेतना के सामान्यीकरण की प्रक्रिया को समझने में पुराने प्रगतिशील

राजनीतिक स्वरूप सफल नहीं हो पाए, और उन सामान्यीकरणों का क्रियान्वयन भी ना हो सका। इसीलिए इस बात को भी समझा जाना चाहिए कि छात्र राजनीति में नए राजनीतिक प्रयोग हमेशा ही वामपंथी और प्रगतिशील छात्र राजनीति के पुराने स्वरूपों के प्रति उदासीन क्यों है? क्यों आज दलित राजनीति या वामपंथी राजनीति की स्वतंत्र समझ रखने वाले छात्र, प्रगतिशील राजनीति के क्षेत्र के भीतर ही पुरानी राजनीतिक संरचनाओं से संतुष्ट तो हैं ही नहीं, बल्कि उनके कटु आलोचक हैं? या तो छात्र समुदाय राजनीति से सम्पूर्ण रूप से कटा हुआ है या उसका विरोधी है, या फिर वह एक नयी संरचना के उत्थान के लिए प्रयासरत दिखता है। अम्बेडकर यूनिवर्सिटी में हुए राजनीतिक कार्यक्रमों को इसी रूप में समझा जा सकता है।

अम्बेडकर यूनिवर्सिटी, दिल्ली, एक युवा यूनिवर्सिटी है, जिसने अभी अपने 10 साल भी पूरे नहीं किये हैं। 2007 में दिल्ली सरकार द्वारा विशेषकर मानविकी के गहन और गम्भीर अध्ययन के उद्देश्य के लिए बनाई गयी इस यूनिवर्सिटी ने छोटे अंतराल में ही अपना व्यापक उत्थान किया है। मसलन, 7 स्नातक पाठ्यक्रम, 21 परास्नातक पाठ्यक्रम और 13 शोध पाठ्यक्रमों के साथ यूनिवर्सिटी में छात्रों की संख्या कोई 1850 के आस-पास है। ऐसे अपेक्षाकृत छोटे लेकिन अकादमिक विभिन्नता से परिपूर्ण इस परिसर में राजनीति चुनौतीपूर्ण कार्य है। वह भी ऐसे सन्दर्भ में जब यूनिवर्सिटी छात्रों में उच्च मध्यम वर्गों और उच्च वर्गों-वर्णों के छात्रों की अच्छी-खासी संख्या है। दूसरी ओर, यूनिवर्सिटी में छात्रों के मुद्दे प्राथमिकताओं की दृष्टि से इतने अधिक अलग-अलग रहें हैं, कि उन मुद्दों को एकताबद्ध करके राजनीतिक दिशा को समझ और तलाश पाना पिछले 4 वर्षों में लगभग हो ही ना सका था। मसलन कुछेक छात्रों के लिए फीस-वृद्धि का मुद्दा ज़रूरी रहा तो वहीं कई उच्च वर्गीय छात्रों का यह भी कहना रहा कि जब फीस इतनी अधिक ली जा रही है तो उसके अनुसार सुविधाएं दी जाएं। कुछ अल्पसंख्यक छात्रों के लिए अकादमिक अध्ययन में अंग्रेजी की कड़ी अनिवार्यता मुद्दा रही, तो इसके ही विरोध में कुछ छात्र हिंदी भाषा में लिखने के संघर्ष को हिंदीवाद से जोड़ते हुए दिखे और कुछ मामलों में इस ज़रूरत को अव्यवहारिक भी बताया गया। यूनिवर्सिटी में कुछ छात्र यदि डीटीसी बस पास की उपलब्धता की लड़ाई को लड़ रहे थे, तो वहीं कुछ छात्र इस से अलग प्रशासन से यूनिवर्सिटी क्षेत्र में कार पार्किंग की बहस में उलझे थे।

इन व्यापकताओं और विरोधों के बीच, यूनिवर्सिटी की फोरम पॉलिटिक्स ने 4 साल के समय में अलग-अलग मुद्दों को समझा, उठाया और कुछ हल भी खोजे। यहाँ दुसरे परिसरों की अराजनीतिक संस्कृति से उलट, अम्बेडकर यूनिवर्सिटी को अलग ले कर आना जरुरी है। जैसे यहाँ सक्रिय राजनीति में कार्यरत छात्र, संगठनात्मक राजनीति से न जुड़ कर, विभिन्न विचारों और सवालों को एक मंच के रूप प्रस्तुत करते रहे हैं। (अम्बेडकर यूनिवर्सिटी में हालिया दौर तक किसी भी संगठन की औपचारिक इकाई नहीं है)। इसे किसी भी तरह से अराजनीतिक तो हरगिज़ नहीं कहा जा सकता। पिछले 4 सालों में बने मंचों को अगर याद करें, तो इसमें सबसे पुराना मंच, 'स्टूडेंट फोरम' रहा है। इसके अलावा भी कई मंच रहे, जैसे, प्रोग्रेसिव एंड डेमोक्रेटिक स्टूडेंट कम्युनिटी ऑफ़ अम्बेडकर यूनिवर्सिटी डेल्ही, नार्थ-ईस्ट फोरम, और छात्रों-शिक्षकों का सामूहिक फोरम, एल.जी.बी.टी. क्वीर कलेक्टिव, और हालिया दौर में बना दलित-बहुजन-आदिवासी कलेक्टिव। ओक्युपाई यू.जी.सी. आन्दोलन एक ऐसे अवसर के रूप में अम्बेडकर यूनिवर्सिटी की राजीनीति से जुड़ा, कि व्यापक और विभिन्न मुद्दों को एक एकताबद्ध सूत्र प्राप्त हुआ, जिसने राजनीतिक रूप से सक्रिय छात्रों को एकत्रित किया। लेकिन जैसा कि मैंने ऊपर ज़िक्र किया कि इन स्थानीय सवालों को चाहे, आक्युपाई यू.जी.सी. के तात्कालिक मुद्दे ने एक कॉमन ग्राउंड दिया हो, लेकिन यूनिवर्सिटीयों के बीच के वर्गीकरणों और यूनिवर्सिटी में छात्रों के मध्य के वर्गीकरणों की समझ को भी इस आन्दोलन ने सामने रखा। बहरहाल, इन वगीकरणों को समझने में ना जे.एन.यू.एस.यू. के नेताओं की कोई दिलचस्पी रही, ना ही संगठित वामपंथी दलों ने, इसमें कुछ रचनात्मक हस्तक्षेप ही किया। और इसीलिए अम्बेडकर यूनिवर्सिटी की राजनितिक समझ में यह शंका और गहराने लगी कि क्या आन्दोलन जे.एन.यू. केन्द्रित तो नहीं हो रहा?

ऐसे राजनीतिक सवाल मेरे मन में भी निरंतर उठते रहे कि राजनीतिक चेतना का सामान्यीकरण जो इतने लम्बे समय बाद अम्बेडकर यूनिवर्सिटी की राजनीति में देखने को मिला है, क्या इसकी रूप-रेखा और जटिलता को समझने को संगठनात्मक वामपंथी ताकतें तैयार हैं? क्या ओक्युपाई यू.जी.सी. आन्दोलन किसी व्यापक विमर्शगत सामान्यीकरण (ब्रॉडर डिस्कर्सिव जनरलाइजेशन) का छात्र राजनीति में क्रियान्वन कर सका? अभी अम्बेडकर यूनिवर्सिटी के भीतरी राजनीतिक विमर्श और बहसें इन सवालों से टकराने में लगी ही थी कि हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय में दलित छात्र नेता, रोहिथ वेमुला ने, यूनिवर्सिटी प्रशासन के जातिवादी-

ब्राह्मणवादी रवैये से आजिज़ आकर अपनी जान दे दी। रोहिथ की 'संस्थागत हत्या' ने देश की छात्र राजनीति को ओक्युपाई यू.जी.सी. के संघर्ष से व्यापक बनाते हुए जातिवादी-ब्राह्मणवादी तन्त्र के खिलाफ छात्र आन्दोलन को और मज़बूत बनाया। रोहिथ का खुद का अपना मुद्दा भी कई महीनों से उसकी फ़ेलोशिप का रुकना भी था, इसीलिए इन सवालों का आपस में जुड़ना तय था। इस आन्दोलन ने ओक्युपाई यू.जी.सी. के बाद अम्बेडकर यूनिवर्सिटी की आन्तरिक राजनीति में एक नयी लहर पैदा की। जिसमे एक ओर पुराने छात्र कार्यकर्ता, नयी समझदारी के साथ आन्दोलन में उतरे वहीं, कई नए छात्र भी इस संघर्ष में गोलबंद हुए। इस पूरी प्रक्रिया में अम्बेडकर यूनिवर्सिटी की राजनीति में एक नयी और प्रगतिशील घटना यह हुई कि पूरे देश में अम्बेडकरवादी संगठनों के उभार की श्रृंखला में अम्बेडकर यूनिवर्सिटी में भी 'दलित-बहुजन-आदिवासी कलेक्टिव (डी.बी.ए.सी.)' नाम के एक फोरम का प्रयोग सामने आया।

'डी.बी.ए.सी.' की राजनीति का अच्छा पक्ष यह रहा कि दलित और पिछड़े छात्रों ने निरंतर एक साथ बैठना शुरू किया और इसी क्रम में यूनिवर्सिटी प्रशासन के इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया कि 'अम्बेडकर मेमोरियल लेक्चर' में हर वर्ष किसी सवर्ण को ही बुलाया जा रहा है। प्रख्यात इतिहासकार प्रो. रोमिला थापर को अम्बेडकर मेमोरियल लेक्चर में बुलाये जाने पर कलेक्टिव (डी.बी.ए.सी.) ने कुछ ऐसे तथ्यों और सवालों को सामने रखा जिन पर बात तो लम्बे दौर से की जा रही थी, लेकिन कुछ किया नहीं जा सका था। बाबा साहेब के नाम से विकासशील एक यूनिवर्सिटी, जो कि वाईस चांसलर की सहमति सहित, (दलित शोधार्थी रोहिथ वेमुला की संस्थागत हत्या पर आधिकारिक तौर पर निंदा व्यक्त करे) अगर अपने ही एक अत्यंत महत्वपूर्ण वार्षिक कार्यक्रम, 'अम्बेडकर स्मृति व्याख्यान', में लगभग हर वर्ष किसी उच्च जातीय अकादमिक या विद्वान को आमंत्रित करती दिखे, तो उसके सिद्धांत और व्यवहार में बड़ा अंतर दिखाई देता है। प्रो. थापर को बुलाये जाने का यह आमन्त्रण और इस आमन्त्रण पर वाईस चांसलर को लिखे अपने पत्र द्वारा डी.बी.ए.सी., यूनिवर्सिटी में छात्रों के बीच कुछ हद तक इस बात का सामान्यीकरण करने में सफल हो पायी। इस तथ्य और व्याख्यानमाला में लगातार सवर्णों को बुलाये जाने के इस जातिवादी-ब्राह्मणवादी अभ्यास के खिलाफ कड़े शब्दों में आपत्ति जताते हुए, वाईस चांसलर को लिखे पत्र द्वारा यूनिवर्सिटी में एक विमर्श ज़रूर खड़ा हुआ। दुर्भाग्य की बात यह रही कि हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय की घटना पर निंदा व्यक्त करने वाले कुलपति महोदय ने, अपने ही परिसर के दलित-आदिवासी छात्रों के इस सवाल का जवाब देने की जरूरत ना समझी। मुलाक़ात तो दूर की बात रही, छात्रों के ख़त का जवाब ख़त द्वारा देना कुलपति महोदय ने मुनासिब न समझा।

इसी तरह का एक प्रकरण तब सामने आया था जब अपनी उदार पहचान की लालसा में यूनिवर्सिटी ने एन.ए.ए.सी. (नेशनल असेसमेंट एंड एक्रेडिटेशन कॉउन्सिल) के आने के दौरान भी बाबा साहेब के विचारों के विरुद्ध आचरण दिखाया था। मुझे याद आता है कि कुछ तीन साल पहले, कार्ल मार्क्स के एक कथन को कुछ साथियों ने ग्राफिटी के रूप में दीवार पर लिखा था। यूनिवर्सिटी प्रशासन ने कुछ ही दिनों में उसी सम्बन्धित स्थान में, जहाँ कि ग्राफिटी थी, दिवालीनुमा रंग-रोगन करा कर, मार्क्स के कथन के हर चिन्ह को वहां से मिटा दिया था। विडम्बना यह रही कि 2014 में एन.ए.ए.सी. के आने पर यूनिवर्सिटी प्रशासन ने 'सजावट' के नाम पर छात्रों को दीवारें सजाने के लिए प्रेरित किया। और न सिर्फ प्रेरित बल्कि इसके लिए रंग-पेंट आदि का सामान भी यूनिवर्सिटी द्वारा ही मुहैया कराया गया। इसी दौरान इसी रंग-रोगन सजावटी और कृत्रिम लिबरल पहचान को गढ़ने की प्रक्रिया के दौरान, कुछ छात्रों ने वैक्लिपिक सेक्सुअल आकांक्षा के चित्र को दीवार में चित्रित किया, जिसे रातों-रात वाईस चांसलर और डीन ऑफ़ स्टूडेंट सर्विसेज की निगरानी में नैतिक-अनैतिक की बहस के निष्कर्ष के तौर पर तहस-नहस कर दिया गया। यूनिवर्सिटी की दीवारों पर बाकी चित्र तो अपना लिबरल गीत गाते दिखाई पड़ते रहे, (आज तक इस महान ऐतिहासिक कांड के साक्ष्य यूनिवर्सिटी परिसर में दिखते हैं) लेकिन एक सूनी दीवार पितृसत्ता की निगरानी में सुलगती रही। आगे चलकर आंबेडकर यूनिवर्सिटी में यह जगह म्युसियम ऑफ़ डिजायर के नाम से कुछ वक्त तक अवश्य जानी गयी। इसी प्रकरण पर स्कूल ऑफ़ कल्चरल एंड क्रिएटिव एक्सप्रेशन के तत्कालीन डीन ने अपने आधिकारिक पद से इस्तीफा भी दिया, जिसे तुरंत ही स्वीकार भी कर लिया गया। इसी तरह पिछले वर्ष ओक्युपाई यूजीसी के समय दीवारों पर महंगी फीस, फण्ड कटौती और कॉन्ट्रैक्ट श्रमिकों से संबंधित ग्राफिटी को भी यूनिवर्सिटी प्रशासन ने महामहिम राज्यपाल के यूनिवर्सिटी दौरे के बहाने से हटवा दिया।

सवाल यह है कि इस जातिवादी-ब्राह्मणवादी और असवरवादी प्रशासनिक अभ्यासों द्वारा यूनिवर्सिटी किस तरह के उदारवाद की बात करना चाहती है? बहरहाल इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जातिवादी-ब्राह्मणवादी अभ्यास को प्रश्नांकित करते हुए डी.बी.ए.सी. ने एक अम्बेडकर चेयर की बात भी उठाई, जिसके तहत परिसर में अम्बेडकर चिंतन पर विचार-विमर्श हो सके। इसी बीच साथ ही साथ स्टूडेंट फोरम के कुछ साथियों द्वारा निकाले जा रहे अखबार 'ए.यू.डी. अखबार', में कई छात्रों ने पहले से कार्यरत स्टूडेंट फोरम की कार्य-प्रणाली पर आलोचनाएँ प्रकट करते हुए, कई ऐसे मुद्दों पर ध्यान दिलाया जिस ओर ध्यान नहीं गया था एक ओर जहाँ इस अखबार की रिपोर्ट, स्टूडेंट फोरम की राजनीति की ब्राह्मणवादी-पुरुषवादी आलोचना करती है। तो वहीं दूसरी ओर, छात्रों की मनोवैज्ञानिक थकान और अवसाद, अकादमिक भाषा और एक ख़ास तरह के अकादमिक लेखन की प्रत्याशा का दबाव और भाषाई संकटों के विभिन्न रूपों को भी सामने लेकर आती हैं। इसी गहमा-गहमी में इस बात पर ध्यान गया कि बाहरी राजनीति के साथ सामंजस्य बनाने की हड़बड़ी में क्या छात्र-राजनीति भीतरी मुद्दों को विस्थापित तो नहीं कर रही? क्या बाहर के राजनीतिक परिवर्तन के अनुरूप चलने की ज़रूरत में, छात्र राजनीति कुछ सवालों-समस्याओं को अलग तो नहीं कर रही? इसका कारण चाहे कुछ भी हो, (रणनीतिक या कुछ भी), मगर क्या यह एक वर्चस्ववादी रुख तो नहीं?

इस तरह 'अम्बेडकर यूनिवर्सिटी डेल्ही न्यूज़लैटर' से उपजी आलोचनाओं ने यह विमर्श छात्र राजनीति और 'स्टूडेंट फोरम' की राजनीति के इर्द-गिर्द पैदा किया, कि क्या हम उसी संरचना को ही पुनःउत्पादित तो नहीं कर रहे जिससे कि हमारा मतभेद है? बहरहाल, इसी राजनीतिक उथल-पुथल के बीच छात्र-संघ चुनावों की भी सूचनाएं प्राप्त हुई, जिसकी सुगबुगाहट पिछले 6-8 महीनों से थी। 'डी.बी.ए.सी.' के उत्थान ने यहाँ एक और मदद यह की, कि चुनाव पर होने वाले विमर्श में यह मुद्दा शुरू से ही केंद्र में रहा कि चुनाव के भीतर आरक्षण का एक निश्चित प्रावधान हो। 6 अप्रैल को हुई लम्बी मीटिंग की ज़ोरदार बहस इसी विमर्श के इर्द-गिर्द हुई। इस में सहमति से यह बात समझी गयी कि ना सिर्फ जातिगत बल्कि तमाम शोषित अस्मिताओं के लिए आरक्षण की अनिवार्य ज़रूरत है। लेकिन समस्या यह रही कि आरक्षण को लागू करने का कोई वैकल्पिक मॉडल अपने शोधगत निष्कर्षों के साथ मौजूद नहीं था। और दूसरी तरफ बात यह भी थी कि चुनाव जिस प्राविधि से हो रहे थे, उसमे हर एक पाठ्यक्रम से एक छात्र प्रतिनिधि को चुने जाने की प्रणाली थी। और पाठ्यक्रमों में आरक्षण को लागू कर सकना तर्कसंगत तो ना था, और नैतिक रूप से गलत भी था।

बहस के दौरान इस बात पर कुछ सहमति बनी कि पहली स्टूडेंट कॉउंसिल और संविधान समिति में, 40% की संरचना को क्रियान्वित किया जाए, जिसमे 40 सदस्य पाठ्यक्रमों से हों, और, जिन्हें कि खोजना है, आरक्षित हों। इस सहमति के बावजूद भी, 'डी.बी.ए.सी.' और कई स्वतंत्र छात्रों का यह मानना रहा कि बिना आरक्षण के चुनावों को नहीं होने देना चाहिए। जबकि छात्रों का एक समूह चुनाव में जाना चाहता था। इन्ही सब गहमा-गहमी के बीच, एक ओर जहाँ 'डी.बी.ए.सी.' और कुछ छात्रों ने इलेक्शन के खिलाफ हस्ताक्षर अभियान चलाये, तो वहीं दूसरी ओर, 'स्टूडेंट फोरम' के छात्रों के एक समूह ने दलित-पिछड़े और महिला राजनितिक छात्र कार्यकर्ताओं के बीच इलेक्शन के अपने विचारों के साथ विमर्श स्थापित किया। अम्बेडकर यूनिवर्सिटी की राजनीति का महत्वपूर्ण पहलू यह भी रहा कि राजनीतिक मतभेदों के बावजूद, चुनाव के दिन 'डी.बी.ए.सी.' और कुछ छात्रों ने चुनाव मुख्यालय के बाहर जब धरना किया, तो उनके धरना करने के अधिकार का चुनाव लड़ रहे छात्रों ने भी समर्थन किया। राजनितिक मतभेदों के बीच भी छात्र-एकता का यह तथ्य इस बात से भी समझ आता है कि धरने पर बैठे छात्रों की शिकायत करने के लिए कई चुनाव लड़ रहे साथियों को कहा भी गया। अंततः इन सभी गहमा-गहमी के बीच चुनाव सम्पन्न हुए, और चुनी हुई कॉउंसिल का जातीय और जेंडर आधार (पर्याप्त तो नहीं पर) काफी बेहतर रहा।

अम्बेडकर यूनिवर्सिटी की छात्र राजनीति के इस विमर्श को यदि समझें तो इसका मकसद उस संरचना को बार-बार विखंडित करने का प्रयास करना है, जो समरूप राजनीति की बुनियाद रखती है। जिसके माध्यम से सभी वर्गीकरण अपने रूपात्मक तरीके से छात्र राजनीति में सामने आ पाए। आरक्षण, दरअसल उन तमाम हाशिये की अस्मिताओं-आवाज़ों तक पहुँचने की कोशिश है, जो केंद्र के विरोधी युग्मों के खेल में अदृश्य या अनुसुनी रह जाती हैं। इसलिए अम्बेडकर यूनिवर्सिटी की वर्तमान राजनीति की कोशिश केंद्र को बार-बार विकेन्द्रित करने की है। इसीलिए यहाँ इस बात पर एक सहमति बनती दिख रही है कि न सिर्फ निम्न जातीय बल्कि महिलाओं, वैकल्पिक सेक्सुअल समूहों, धार्मिक अल्पसंख्यक, क्षेत्रीय अल्पसंख्यक

(मसलन तनाव ग्रस्त क्षेत्रों के छात्र), भाषाई अल्पसंख्यक और निम्न वर्गीय छात्रों की मौजूदगी को आरक्षित किया जाए। और इसी प्रयास की पूर्ति के लिए 'अम्बेडकर यूनिवर्सिटी स्टूडेंट कॉउंसिल' ने अपनी पहली ही कॉउंसिल मीटिंग में इस प्रस्ताव को पास किया कि जब तक इन श्रेणियों के छात्र चुन कर कॉउंसिल के भीतर नहीं आते तब तक संविधान सभा बनी नहीं मानी जायेगी। संविधान का एक शब्द नहीं लिखा जाएगा। और इसी प्रक्रिया के अनुरूप कॉउंसिल और यूनिवर्सिटी के कुछ अन्य छात्र फ़िलहाल इन गर्मी की छुट्टियों में आरक्षित तबके की रिसर्च एक्टिविटी में कार्यरत हैं। इसी सवाल की सम्भावना की तलाश के लिए कि, क्या पुरानी संरचनाओं का अतिक्रमण करते हुए किसी नयी छात्र राजनीति की संरचना तक जाया जा सकता है?

(सदस्य छात्र परिषद, अम्बेडकर विश्वविद्यालय। शोध छात्र, साहित्यिक कला। विद्यार्थी युवजन सभा। सदस्य, संचालन समिति, 'ऑक्यूपाई यू.जी.सी.')

■

धार्मिक राष्ट्रीयता बनाम आर्थिक राष्ट्रवाद

किशन पटनायक

संघ परिवार की विचारधारा के केंद्र में राष्ट्र और राष्ट्रीयता है, न कि धर्म। धर्म उसकी रष्ट्रीयता का आधार है। संघ परिवार के लिए धर्म का मतलब हिंदू संप्रदाय है। जब-जब हिंदू समुदाय के अर्थ में भारतीय राष्ट्र, परिभाषित होगा, तब-तब संघ परिवार का राष्ट्रवाद प्रभावी और विश्वसनीय होगा। हिंदू समाज और भारतीय राष्ट्र को एकाकार करने की रणनीति भाजपा की राजनीति है।

1962 को एक कालबिंदु माना जा सकता है, जिसके पहले भारतीय राष्ट्र को हिंदू समुदाय के अंदर सीमित करके देखने की मानसिकता नहीं के बराबर थी। उसके बाद अगर यह मानसिकता बढ़ रही है तो इसलिए नहीं कि लोग अपने राष्ट्र को हिंदू राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे, बल्कि इसलिए कि हिंदू राष्ट ही एकमात्र भारतीय राष्ट्र है, जो दृश्यमान है, जिसे लेकर राजनीति में चिंता और गर्व है। और किसी भारतीय राष्ट्र के बारे में गर्व करने की या उसे दुनिया में आदर्श के रूप में स्थापित करने की बात ही नहीं होती है।

जो जितना बड़ा धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी है, उसके लिए 'भारत माता' का उच्चारण उतना अधिक लज्जाजनक है। यह बात समाने आयी जब प्रधानमंत्री नेहरू ने चीन अधिकृत हजारों वर्ग किलोमीटर जमीन को 'बंजर और ऊसर' कहकर भारत वासियों को यह संदेश दिया कि इस भूमि पर चीन का कब्जा होना हमारी नींद खराब करने का कारण नहीं बनता। अपने देश को भारत माता कहने वाला आदमी इस प्रकार का बयान नहीं दे सकता था। युवा नेहरू काफी हद तक गाँधी प्रभावित था। एक भौगोलिक इकाई के बारे में भावुक होना उसके स्वभाव के विरुद्ध नहीं था।

देश को भूगोल कहना बौद्धिक है, मिट्टी और पत्थर को माता कहना गँवारपन है और भावुक स्वभाव का लक्षण है। धर्मनिरपेक्षता का औसत नेता और औसत बुद्धिजीवी जाने-अनजाने उस दार्शनिक बहस का पक्षधर है जिसके अनुसार बौद्धिकता और भावुकता परस्पर विरोधी तत्व हैं और मनुष्य का कर्म भावना के द्वारा नहीं, तर्क तथा गणित के द्वारा परिचालित होना चाहिए। इसी बहस ने भारतीय बुद्धिजीवी को एक पिछली किस्म का अंतर्राष्ट्रीयतावादी बना दिया है। दरअसल, उनकी अंतर्राष्ट्रीयता एक छद्म है और राष्ट्रीय जिम्मेदारियों से पलायन का उपाय है। वे या तो अंतर्राष्ट्रीयतावादी बनेंगे या फिर क्षेत्रीयतावादी बनेंगे, लेकिन राष्ट्रवादी नहीं बनेंगे। यूरोपीय मानवतावाद का जो अनुकरण तीसरी दुनिया के देशों के बौद्धिक जगत में हुआ, यह उसी का परिणाम है एक यह सिद्धान्त (थियोरी) भी बनता जा रहा है कि राष्ट्र राज्य (नेशन स्टेट) का जमाना लद गया है। अब तो विश्वयारी (कस्मोपॉलिटॉनिज़्म) का नया युग आ चुका है। व्यवहार में यह विश्वयारी उपभोक्तावादी सुख और कमोत्तेजना के अनुसंधान के अलावा और कुछ नहीं है। अपने चारों ओर फैली हुई अमानवीय स्थितियों और संबंधों के बारे में उसकी कोई संवेदनशीलता या सरोकार रहता ही नहीं है। विश्व की बात कह कर अपने पड़ोस को नज़रअंदाज करने का अच्छा बहाना मिल गया है इन विश्वयारों को। गाँव, राष्ट्र और धर्म—ये सब आदमी अपने पड़ोस के प्रति उत्तरदायी बनाने की अब धारणाएँ हैं। विश्वयारी इन तीनों बंधनों से मुक्त होना चाहती है।

1962 के पहले के ऐतिहासिक कारणों से भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रीयता का सर्वोच्च प्रतीक जवाहरलाल नेहरू

थे। 1962 के बाद इस नेहरू वाले प्रतीक में राष्ट्र के प्रति भावना की तीव्रता नहीं दिखाई दी। धर्मनिरपेक्षता के मामले में नेहरू के सबसे नजदीक कम्युनिस्ट पार्टियाँ थीं, तो 1962 में कम्युनिस्टों के देश प्रेम के बारे में जरूरत से अधिक प्रश्नचिह्न लग गया था। उन्हीं दिनों संघ परिवार का राष्ट्रवाद पहली बार विश्वसनीय होने लगा। इसलिए नहीं कि राष्ट्रवादी संबंधी उनकी धारणा लोकप्रिय था, बल्कि इसलिए कि संघ का राष्ट्रवाद निःसंकोच थी। यही समय था जब जनसंघ के नेता (दीनदयाल उपाध्याय) का एक 'राष्ट्रीय नेता' वाली छवि बन गयी। तब से आज तक राष्ट्रवाद की भावना को एक सकारात्मक राजनैतिक मुद्दे के रूप में अनवरत सक्रिय रखना सिर्फ संघ परिवार का कार्यक्रम रहा है। अन्य किसी राजनैतिक या बौद्धिक समूह के विचारों में यह एक प्रभावी तत्त्व नहीं रह गया है। पिछले पचीस साल की (लोहिया के बाद की) राजनीति के बारे में यह कहा जा सकता है कि भाजपा जनसंघ को छोड़कर अन्य किसी दल या खेमा के लिए राष्ट्रवाद एक निर्णायक मुद्दा नहीं रहा है।

राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रवाद की अनिवार्यता है या नहीं? क्या एक अराष्ट्रीय विचारधारा के तहत संघ परिवार की आक्रामकता का मुकाबला किया जा सकता है? धर्म निरपेक्षतावादी बौद्धिकजन इस प्रश्न का उत्तर देंगे।

राष्ट्र की अवधारणा बहुत पुरानी है। देश के साथ-साथ उसकी एक भावना पैदा हुई है। लेकिन एक खास अर्थ में यह यूरोपीय इतिहास की देन है। राष्ट्र और राज्य की एक ही भौगोलिक परिधि होगी— इस अर्थ में राष्ट्र और राष्ट्रवाद एक आधुनिक (यूरोपीय) अवधारणा है। एक राष्ट्र का एक राज्य होगा, एक राज्य में एक राष्ट्र होगा—प्रथम विश्वयुद्ध के समय तक यह सिद्धान्त यूरोप में जम चुका था और दुनिया के अन्य हिस्सों को प्रसारित हो रहा था उसके पहले के पाँच सौ साल या उससे भी अधिक समय का यूरोपीय इतिहास आपसी युद्ध, आक्रमण और बाहरी हस्तक्षेप, दूसरी तरफ पड़ोसी देशों का आक्रमण—इन दो प्रकार के हमलों से लड़ने के लिए यूरोपीय राजनीति में राष्ट्रवाद का उदय हुआ। राष्ट्रीय भावना को जनमानस में दृढ़ करने के लिए काव्य और दर्शन के माध्यम से एक मूल्य के रूप में इसे महिमामंडित किया गया। विख्यात जर्मन दार्शनिक हेगेल ने राष्ट्र को एक आध्यात्मिक इकाई का दर्जा दिया। अगर यूरोपीय देशों में धार्मिक हस्तक्षेप और परस्पर युद्ध के कारण राष्ट्रवाद विकसित हुआ तो बाद के समय में यूरोप के साम्राज्यवादी हमले से आत्मरक्षा के उद्देश्य से गैर-यूरोपीय जनसमूहों के अन्दर राष्ट्रवाद का विकास हुआ। जनसमूहों के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, प्रत्येक क्षेत्र में यूरोप का हस्तक्षेप हुआ और बढ़ता गया। अपने धर्म, संस्कृति और आर्थिक सुरक्षा को स्वायत्त रखने के राजनैतिक स्तर पर अपनी अस्मिता को जागृत करना और परिभाषित करना आवश्यक हो गया।

आधुनिक सभ्यता ने जिस आर्थिक विकास पद्धति को अपनाया है, उसके चलते कोई भी जनसमूह बाहरी आक्रमण और हस्तक्षेप से सुरक्षित नहीं हो सकता क्योंकि इस विकास प्रणाली में 'अपने' जनसमूह को समृद्ध बनाये रखने के लिए कुछ अन्य जनसमूहों को राजनैतिक और आर्थिक रूप में निरंतर पिछड़ा बनाये रखना आवश्यक है, ताकि उनका बाजार, कच्चा माल और सस्ता श्रम अपने को उपलब्ध होता रहे। इस दोहरी दुनिया में 'अपना' कौन है और 'अन्य' कौन है इसका उत्तर देना पड़ता है। इसलिए औपनिवेशिक विकास पद्धति के इस युग में राष्ट्रवाद एक अपरिहार्य भावनात्मक मूल्य है। यही प्रमुख राजनैतिक अस्मिता है। किस भौगोलिक सीमा पर हम अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का निरूपण करेंगे—वह सिर्फ हमारे ऊपर निर्भर नहीं है। हम एक बड़ा राष्ट्र बनाना चाहेंगे, बाहरी ताकतें इसे होने नहीं देंगी। यूरोप की हमेशा कोशिश रही है कि गैर-यूरोपीय जनसमूहों का कोई विशाल और मजबूत राष्ट्र न बन पाये। समग्र अरब जनसमूहों का एक राष्ट्र, अफ्रीका के समूचे काले लोगों का एक राष्ट्र या अखंड हिन्दुस्तान जैसी संभावनाओं को यूरोप ने सफलतापूर्वक रोका है और नष्ट किया है। इसलिए कोई नहीं कह सकता कि गैर-यूरोपीय राष्ट्रों का निर्माण बिल्कुल मनमानी ढंग से, जरूरत से बड़े आकार में हो गया है।

यूरोप के अधीनस्थ देशों के जितने राष्ट्र बने हैं, उनका निर्माण घोर प्रतिकूल दबावों के बावजूद हुआ है। इसलिए उनकी राष्ट्रीयता व्यवहारिक सीमाओं के अंदर निरूपित हुई है और प्रामाणिक है।

जहाँ एक राष्ट्र जनबूझ कर साम्राज्यवादी नहीं है अगर वहाँ का राष्ट्रवाद भी संकीर्ण या आक्रामक रवैया प्रदर्शित करता है तो उसका असली कारण आधुनिक विकास पद्धति है। अगर भारतीय राष्ट्र देश के आदिवासी जनसमूहों को पिछड़ा रखना चाहता है, तो इसका कारण राष्ट्रवाद नहीं है। इसका कारण है विकास पद्धति। इस समस्या का समाधान अलगाववाद या विच्छिन्नतावाद नहीं है। मौजूदा पद्धति को बदलना ही इसका स्थायी प्रतिकार है। विकास पद्धति को बदलने से राष्ट्रवाद की बहुत सारी रूढ़ियाँ खत्म हो जायेंगी।

यह कहा जा चुका है कि राष्ट्रवाद की प्रेरणा भले यूरोप

से आयी हो, लेकिन यूरोप की हमेशा यह कोशिश रही है कि एशिया-अफ्रीका में राष्ट्रवाद बन न पाये। यह कोशिश सिर्फ यूरोप की सरकारों तक सीमित नहीं है। यूरोप के बुद्धिजीवी, का हमेशा यह रुख रहा कि गैर-यूरोपीय जनसमूहों के लोग अपना कोई स्वतंत्र ज्ञान विकसित न करें। विभिन्न क्षेत्रों में चल रही, अपनी पारंपरिक प्रणालियों को संजीवित न करें, संवर्धित न करें। आश्चर्य की बात है कि कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों का भी यह रुख रहा, बल्कि अधिक रहा।

भारतीय कम्युनिस्ट तो यहाँ तक चले गये कि उन्होंने रणकौशल के स्तर पर भी राष्ट्रीय भावना को त्याग दिया। वियतनाम और चीन के कम्युनिस्टों और भारत के कम्युनिस्टों में बुनियादी अंतर यही है। अन्यथा कोई कारण नहीं है कि चीन और वियतनाम की तरह भारत में भी कम्युनिस्टों को सफलता न मिलती। जब भविष्य का लेखक भारत में कम्युनिस्ट क्रांति की विफलता का विश्लेषण करेगा, उसकी इच्छा यह कहने की होगी कि 1990 के सोवियत पतन का इस पर बहुत बुरा असर पड़ा। यह उसकी गलती होगी। भारत में कम्युनिस्टों को वर्तमान विफलता के पीछे सोवियत विघटन का रत्ती भर भी कारण नहीं है। भारत के समाजवादियों की तुलना में कम्युनिस्ट अधिक संगठित और प्रभावशाली रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि कम्युनिस्ट आंदोलन क्रांतिकारी था। लेकिन अराष्ट्रीय होने के कारण राष्ट्रीय समाज की समस्याओं का उसे ज्ञान नहीं हो पाया। समस्याओं के बारे में सही नीति अपनाने के बजाय वह वास्तविकता से दूर हटता गया।

1947 के बाद के भारत में पूँजीवादी-उदारवादी बुद्धिजीवी और कम्युनिस्ट बुद्धिजीवी—इन दो समूहों के द्वारा शिक्षित समाज की वैचारिक समझ प्रभावित था। (समाजवादियों का प्रभाव नगण्य था। 1970 के पहले तक संघ परिवार का बौद्धिक प्रभाव उल्लेखनीय नहीं था) भारत का उदारवादी अक्सर अराष्ट्रीय होता है, लेकिन वह अचारण में ही अराष्ट्रीय होता है। सिद्धान्त के तौर पर या लेख लिख कर वे राष्ट्रवाद का विरोध नहीं करते। राष्ट्रवाद के विरुद्ध सबसे लंबे निबंध मार्क्सवादियों ने लिखे हैं। उन्होंने लिखा है कि राष्ट्रवाद का मतलब पड़ोसियों पर हमला करनेवाला राष्ट्रवाद है। हालाँकि खुश्चेव की भारत यात्रा के बाद से अभी तक पाकिस्तान विरोधी बयान देने में और पाकिस्तान को भारत के एकमात्र दुश्मन के रूप में घोषित करने में कम्युनिस्ट पार्टियाँ भाजपा से पीछे नहीं रही या किसी के पीछे रहे तो सिर्फ भाजपा के। कम्युनिस्टों की दृष्टि में शायद गाँधी जी एक उग्र राष्ट्रवादी (शाविनिस्ट) नेता थे, क्योंकि वे धर्म के आधार पर भारत के विभाजन के कट्टर विरोधी थे। यह सचमुच इतिहास की एक विडंबना है जब कम्युनिस्ट कहते हैं कि राजनीति से धर्म को बहिष्कृत करना होगा। यह बात याद करने के काबिल है कि आजादी आंदोलन के एक नाजुक समय में उनकी पार्टी ने धर्म को आधार मानकर पाकिस्तानी राष्ट्रीयता का समर्थन किया था। इसका मतलब यह नहीं कि कम्युनिस्ट धर्मवादी हो गये थे, इसका मतलब सिर्फ इतना है कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बारे में कम्युनिस्टों की समझदारी कभी भी नहीं बन पायी है। उनकी दिक्कत यह है कि जब वे गलतियों को बहुत दिनों बाद स्वीकारते हैं, यह स्वीकार एक औपचारिक कार्य होकर रह जाता है। गहराई में जा कर वे प्रायश्चित नहीं करते। प्रायश्चित न करने पर गलतियों का संस्कार मन में रह जाता है। 1942 की गलती को वे मान चुके हैं, फिर भी राष्ट्र संबंधी उनकी अवधारणा साफ नहीं हुई है। बाबरी मस्जिद टूटने के बाद वे कहते हैं कि धर्म संबंधी उनकी अवधारणा गलत थी, लेकिन क्या वे धर्म संबंधी एक स्पष्ट धारणा बनाने जा रहे हैं? मनुष्य के इन दो आधारभूत तत्वों (धर्म और राष्ट्र) के बारे में विचारशून्यता के कारण मस्जिद टूटने का सबसे बड़ा धक्का कम्युनिस्ट खेमा को लगा है। उनका खेमा बिलकुल हिल गया है। वे ढकेल दिये गये हैं 1977 की पूर्व स्थिति को, जब वे ब्रेझनेव की सलाह मान कर कांग्रेस पर आश्रित हो गये थे। अपने बल पर सांप्रदायिकता की शक्तियों से लड़ने का आत्मविश्वास उनमें बिल्कुल नहीं है। वे न सिर्फ स्वयं कांग्रेस खेमे के सहयोगी होना चाहते हैं, बल्कि समूचे गैरभाजपाई विपक्ष को कांग्रेस खेमे के साथ जोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। वे अगले चुनाव में, प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से, जानबूझकर कांग्रेस को मदद करने की गंभीर गलती करने जा रहे हैं।

भारतीय कम्युनिस्टों की आलोचना का कतई यह मतलब नहीं है कि भारतीय समाजवादी उनसे बेहतर रहे हैं। कुछ अपवादों को छोड़ कर यह कहा जा सकता है कि समाजवादी आंदोलन की अपनी विचारधारा कभी नहीं बन पायी है। समाजवादी विचारों का एक हिस्सा पूँजीवादी उदारवादी विचार का अनुकरण है तो दूसरा हिस्सा कम्युनिस्ट विचारों की छाया है। एक मौलिक दर्शन के तहत इन दो हिस्सों का सृजनात्मक समन्वय डॉ. लोहिया के चिंतन और व्यक्तित्व में देखने को मिलता है, लेकिन उनके अनुयायियों की अयोग्यता के कारण इसकी धारावाहिकता और व्यापकता खत्म हो चुकी है। वर्तमान भारत के

समाजवादियों ने लोहिया के कार्यक्रमों को अलग-अलग करके माना है, लेकिन समाजवाद की न कोई वैचारिक धारा रह गयी है न कोई समग्र आंदोलन दिखाई देता है। राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद के संबंध में उनकी भी कोई स्पष्ट समझदारी नहीं है जो प्रचारित हो सके। इतना तो हरेक समाजवादी कह देगा कि धर्म के द्वारा राष्ट्रीयता को परिभाषित करना गलत है। लेकिन राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद किसी काम की चीज है या नहीं, इसके बारे में एक औसत समाजवादी कुछ भी कह नहीं पायेगा। राष्ट्र के बारे में और खासकर राष्ट्रवाद के बारे में अभी भी बहुत सारे समाजवादियों की सोच कम्युनिस्टों की जैसी है।

राष्ट्रीयता कहिए, राष्ट्रवाद कहिए, अस्मिता कहिए या मिथक कहिए, बात एक है। अपनी भौगोलिक इकाई को अगर इस मिथक के सहारे आप एक भावनात्मक इकाई का दर्जा नहीं देते हैं, तो उसकी सीमाओं के अंदर रहने वाले जनसमूह के समग्र विकास और सामूहिक उत्थान के लिए आप समर्पित होकर कार्य नहीं कर सकते। इस जनसमूह के एक-एक व्यक्ति से संबंध स्थापित करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है—सिवाय इस भावनात्मक सूत्र के। धर्म, संस्कृति, भाषा, राष्ट्र और गाँव–ये अलग-अलग उद्देश्यों के लिए अलग-अलग भावनात्मक इकाइयाँ हैं। इन मिथकों की आवश्यकता सामान्यजन और बुद्धिजीवी दोनों के लिए समान मात्रा में है। ऐसा नहीं कि बुद्धिजीवी के लिए इनकी जरूरत नहीं है। अगर इन मिथकों का नियंत्रण बुद्धिजीवी पर नहीं रहेगा, तो वह मानव समाज के लिए विध्वंसक हो जायेगा, राष्ट्र के लिए वह विश्वासघातक हो जायेगा। वह अपनी बुद्धि को भाड़े पर लगा देगा।

तीसरी दुनिया के देशों में, जहाँ राष्ट्रीय भावना की कमी हो गयी है, ऐसा ही हो रहा है। बुद्धिजीवी अपनी बुद्धि को भाड़े पर लगा रहा है। इस वक्त यूरोप, अमेरिका और जापान में राष्ट्रीय भावना सबसे अधिक मात्रा में है, तो सबसे कम भारत जैसे देश के बुद्धिजीवी समूहों में है। लातीनी अमेरिका, अफ्रीका और भारतवर्ष के शासक वर्ग का एक बड़ा और महत्वपूर्ण हिस्सा साम्राज्यवादियों का पिछलग्गू है। यह तबका इतना बड़ा है कि इसे देशद्रोही कहना राष्ट्र को कलंकित करना होगा। इसलिए इसको राष्ट्रद्रोही नहीं कहना चाहिए, उसके चरित्र के बारे में सचेत रहना चाहिए। निजी स्वार्थ के लिए इस तबके के लोग अपने देश के भविष्य हित को बेच रहे हैं। 6 दिसम्बर के बाद जो सबसे बड़ा शर्मनाक काम हुआ है, वह 5 मार्च को बिना शोरगुल के संपन्न हुआ है। भारत के सारे भूगर्भीय खनिज पदार्थों को विदेशी कंपनियों को बेचने का निर्णय भारत सरकार ने उसी दिन किया। बुद्धिजीवी वर्ग के किसी महत्वपूर्ण भाग में इसे लेकर खलबली नहीं मची है। इसी से समझ लेना चाहिए कि पिछलग्गू या पिट्ठू होने का चरित्र जब इतिहास को प्रभावित करता है तब यह चरित्र व्यक्ति चरित्र के रूप में नहीं उभरता है। यह एक वर्ग चरित्र होता है। जयचंद और जगत सेठ का चरित्र व्यक्ति चरित् नहीं था। यह वर्ग चरित्र उस समाज की उपज था, जिसमें सामूहिक लक्ष्य का कोई प्रबल मिथक नहीं रह गया था, जब समान नागरिकता की संभावना धर्म के अंदर भी पूरी तरह खत्म हो चुकी थी। वर्तमान भारत के संदर्भ में इस वर्ग चरित्र का जन्म राष्ट्रीय मिथक के अभाव में हुआ है। जिन अधिकारों को हथियाने के लिए ईस्टइंडिया कंपनी को इतने सारे युद्ध करने पड़े थे। उन सारे अधिकारों को बेचने के लिए आज दिल्ली का संसद भवन एक सुपर बाजार बना हुआ है। यानी 1757 के भारतीय शासक वर्ग की तुलना में आज के भारतीय शासक वर्ग की राष्ट्रीय भावना अधिक कमजोर है।

राष्ट्रवाद को उग्र राष्ट्रवाद कह कर उसका रचनात्मक उपयोग न करना एक अजीब किस्म का बौद्धिक पलायनवाद है। साम्राज्यवाद से लड़ने का और कौन-सा दूसरा साधन है? देश रक्षा और आर्थिक विकास के दायित्व में जो लोग हैं वे अपने बच्चों का भविष्य विदेशों में न देखें—इसी देश के अंदर देखें, इसकी गारंटी और क्या हो सकती है? अनाज की कमी वाले देश में किसानों का ध्यान सिर्फ नकदी लाभकारी फसलों की ओर न जा कर खाद्यान्न के उत्पादन की तरफ जाये, इसकी प्रेरणा कहाँ से आयेगी? राष्ट्रीयता अगर भावुकता ही है, भावुकता में क्या बुराई है? मनुष्य के व्यवहार में भावुकता की इसलिए जरूरत होती है कि कुछ प्रकार की चुनौतियों का तत्काल, बिना बहस किये, मुकाबला करना पड़ता है। जिन चुनौतियों का मुकाबला तत्काल और सामूहिक ढंग से करना पड़ता है, आनेवाली उन सारी चुनौतियों के लिए भावनाएँ तैयार रहनी चाहिए। देश के खदानों की मिल्कियत विदेशियों को दे देना सही है या गलत है— इसकी बहस करनेवाला कभी भी अपने खदानों की रक्षा नहीं कर पायेगा। मेरी माँ की कुरूपता पर मजाक करने वाले सज्जन को मैं कोई रोषपूर्ण वाक्य कहूँ या न कहूँ—यह लंबी बहस के बाद तय नहीं हो सकता।

भावनाएँ, संबंध वाली भावनाएँ और सामूहिक भावनाएँ अपने आप में विशुद्ध नहीं होती हैं। भावनाओं को संस्कृति से लैस करना पड़ता है। अलग-अलग स्थान और काल में भावनाओं की अंतर्निहित संस्कृति अलग-अलग

होती है। कुछ विचार भावनाओं के अंदर अदृश्य होकर निहित रहते हैं। जैसे हम बढ़िया स्वाद के लिए काला जामुन खाते हैं तो कुछ पौष्टिक तत्व भी उस जामुन के भीतर रहता है। मेरे खाने की इच्छा से उसका कोई सरोकार नहीं है। चालीस साल पहले भारत में सर्वत्र एक कहावत प्रचलित थी : जिसका बेटा लायक है, वह क्यों संचय करे? जिसका बेटा नालायक है, उसको भी संचय नहीं करना चाहिए। क्योंकि नालायक बेटे को कष्ट झेलना चाहिए। यह किसी एक युग की संस्कृति थी, इसके द्वारा पुत्रमोह की भावना या परिवार के लिए संचय करने की भावना को मर्यादित किया जाता था। इस संस्कृति के खत्म होने के बाद पारिवारिक संचय की अमर्यादित वृत्ति समाज और देश के लिए अभिशाप बन गयी है। भावना वही है, लेकिन उसका व्यावहारिक रूप भिन्न है, सारा महाभारत पारिवारिक मोह (पुत्र मोह) को मर्यादित करने की शिक्षा देनेवाली अनुपम गाथा है।

राष्ट्रीयता भी ऐसी एक सामूहिक भावना है, जिसकी संस्कृति, जिसका व्यावहारिक रूप अलग हो सकता है। वह एक संकीर्ण भावना होगी या एक उदार भावना होगी, उसका रुझान साम्राज्यवादी होगा या विश्वमैत्री की दिशा में होगा, उसका अंदरूनी तेवर सामान्य जन के लिए अनुकूल है या एक विशिष्ट वर्ग के हित में है, यह इस पर निर्भर करता है कि समाज का नेतृत्व और बुद्धिजीवी वर्ग राष्ट्रीय भावना को किन नीतियों के साथ जोड़ कर अभिव्यक्त करते हैं। गाँधी और रवींद्रनाथ ने इसे कुछ खास नीतियों के साथ जोड़ कर अभिव्यक्त किया, गोलवलकर और बाल ठाकरे ने भिन्न ढंग से किया। कम्युनिस्ट भी इससे बच न सके, उनकी राष्ट्रीयता पाकिस्तान विरोध के रूप में अभिव्यक्त होती है। साधारण जन देश की अधिकांश समस्याओं को राष्ट्रीय भावना के माध्यम से समझ पाता है। ट्रेड यूनियनों के अधिकांश मजदूर इस वक्त देश की समस्याओं को समझने में असमर्थ हो गये हैं क्योंकि ट्रेड यूनियनों के लिए राष्ट्र कभी एक मुद्दा नहीं बनता है। ट्रेड यूनियननुमा किसान संगठनों का भी बुरा असर किसानों पर पड़ रहा है। किसान समझ नहीं पा रहा है कि अधिक लाभ के लिए ज्यादा रासायनिक खाद डाल कर भारत की मिट्टी को कमजोर बना दे या देशी बीज का इस्तेमाल कर देश की मिट्टी को बरकरार रखे। अगर बुद्धिजीवी वर्ग आत्मनिर्भर कृषि को राष्ट्रीय आत्मसम्मान की नीति के रूप में पेश करेगा तो किसानों की भी राष्ट्र भावना जगेगी और जरूरत पड़ने पर खेती के कठिन उपायों को अपनाने के लिए किसान तैयार हो जायेगा।

नेताओं और बुद्धिजीवियों के न चाहने से राष्ट्रीय भावना खत्म नहीं होगी। किसी न किसी तरह वह अभिव्यक्त होगी। साम्राज्यवाद से बचने के सन्दर्भ में उसे अभिव्यक्त नहीं किया जायेगा, तो इतिहास का बदला लेने के लिए उसका उपयोग होगा। चीन के कब्जे से जमीन छुड़ाने के लिए उसका उपयोग नहीं होता तो श्रीलंका या पाकिस्तान से लड़ने के लिए इसका इस्तेमाल होगा। पूरी आबादी के संदर्भ में अगर भावनाएँ सक्रिय नहीं होंगी, तो किसी क्षेत्र विशेष या समुदाय विशेष की भावना बन कर उसका विस्फोट होगा। जाति, संप्रदाय और क्षेत्र राष्ट्र का विकल्प बन जायेंगे। भारत की सांप्रदायिकता राष्ट्रीयता का ही एक संकीर्ण और विकृत अवतार है।

सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक दंगा-दोनों में फर्क हैं। दंगे के संदर्भ में सद्भावना का कार्यक्रम एक सही कार्यक्रम है। लेकिन सद्भावना सभाओं के द्वारा सांप्रदायिकता का प्रतिकार नहीं हो सकता। सांप्रदायिकता एक विचारधारा है। यह विकृत राष्ट्रीयता की विचारधारा है। एक बेहतर राष्ट्रीय विचारधारा जो अधिक व्यावहारिक भी हो, उसका एकमात्र और स्थायी प्रतिकार हो सकता है। इस वक्त राष्ट्रीयता को अभिव्यक्त करने का सबसे महत्वपूर्ण और व्यावहारिक संदर्भ आर्थिक नीतियाँ हैं, क्योंकि ये नीतियाँ राष्ट्र और जनसाधारण दोनों के विरुद्ध एक षड्यंत्र हैं। जब-जब राष्ट्रीय भावना और जन-असंतोष की चेतना का संयोग एक ही मुद्दे पर होता है, तब-तब दरिद्र देशों का जनसाधारण देश और वर्ग दोनों के लिए सक्रिय होता है। ऐसे समय में सामान्य नागरिक की राजनैतिक चेतना अधिकतम होती है। मध्य वर्ग का जो हिस्सा संपन्न नहीं है, वह राष्ट्रीय भावना के प्रभाव में जल्दी आता है। इसलिए मध्य वर्ग और किसान-मजदूर वर्ग के हितों में भी टकराव कम से कम होता है। संभवतः भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में यह संयोग (राष्ट्रीय हित और सामान्यजन के हित का संयोग) पर्याप्त मात्रा में नहीं था, क्योंकि धनी बूर्जुआ वर्ग का स्वार्थ राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ा हुआ था। लेकिन नयी आर्थिक नीतियों के विरुद्ध संघर्ष करने का मतलब है धनी बूर्जुआ वर्ग के उपभोक्तावाद और मुनाफावाद पर रोक लगाना। आर्थिक राष्ट्रवाद इस समय की राष्ट्रीयता का मुख्य बिंदु बन सकता है, इसे धनी बूर्जुआ वर्ग हतोत्साहित कर रहा है। सांप्रदायिक राष्ट्रवाद और आर्थिक, राष्ट्रवाद में से चुनना होगा तो वह प्रथम को चुनेगा। कुछ लोग गलत कहते हैं कि आर्थिक राष्ट्रवाद भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए अनुकूल

पड़ेगा। पड़ना चाहिए, पर काश ऐसा होता। पड़ेगा नहीं, क्योंकि भारत का पूँजीपति वर्ग विकास की दीर्घकालीन दृष्टि को मानता नहीं है। तात्कालिक मुनाफा और तात्कालिक उपभोक्तावाद के बाहर और किसी चीज को वह आर्थिक विकास मानने को तैयार नहीं है। मुनाफा और उपभोक्तावाद की तात्कालिकता पर रोक लगाना आर्थिक राष्ट्रवाद का पहला सूत्र होगा।

चुनौती का रूप है : आर्थिक राष्ट्रवाद बनाम धार्मिक राष्ट्रीयता। इस सूत्र के अनुसार धार्मिक राष्ट्रीयता (जिसे आडवाणी ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कहना शुरू किया है) की भूमिका से राव-सिंह सरकार को खुश होना चाहिए। क्या वे खुश हैं? यह कहना गलत होगा कि कांग्रेस धार्मिक राष्ट्रवाद का समर्थक होने जा रही है या हो गयी है। बात इतनी है कि कांग्रेस इससे खुश है कि आर्थिक राष्ट्रवाद उभर नहीं पा रहा है। सत्ताधारियों के संतोष का कारण कभी-कभी बहुत टेढ़ा (परोक्ष) होता है। इस संतोष के चलते अगर कांग्रेस दुविधाग्रस्त होती है या उसकी सरकार खतरे में पड़ जाती है तो सत्ता के दलालों का कोई नुकसान नहीं होने वाला है, और न सत्ता पर नियंत्रण करने वालों का कोई नुकसान होने वाला है।

कांग्रेस और भाजपा का आपसी विरोध नकली नहीं है। उनके राजनैतिक विचार भिन्न है। लेकिन दोनों पर अगर एक ही प्रकार के आर्थिक स्वार्थ हावी हैं तो एक की जीत और दूसरे की हार या दूसरे की जीत और एक की हार से इतिहास को ज्यादा फर्क नहीं पड़ने वाला है। संघ परिवार की सफलता की कसौटी क्या यह है कि केन्द्र में भाजपा की सरकार बन जाये? जो लोग ऐसा सोचते हैं, वे सरलीकरण की गलती करते हैं। भाजपा का प्रधानमंत्री बने, इसके लिए भाजपा नेताओं में जितनी आतुरता होगी, संघ परिवार के अन्य घटकों के नेताओं में उतनी आतुरता नहीं होगी। उनकी आतुरता सिर्फ इसलिए होगी कि देश में एक खास प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियाँ पैदा हो। अगर कांग्रेस की आर्धिक नीतियों के परिणामस्वरूप धार्मिक असहिष्णुता और सामाजिक तनाव बढ़ते हैं, पूरी व्यवस्था में ब्राह्मण-बनिया वर्चस्व भी बढ़ता है, तो संघ परिवार के नेतृत्व में कांग्रेस के साथ सहअस्तित्व का एक विचार भी पैदा हो सकता है।

संघ के विचारक तीक्ष्ण बुद्धि के हैं। भाजपा का प्रधानमंत्री बनाने की जल्दबाजी उन्हें नहीं। संघ परिवार की विचारक मंडली में कुछ साहब-बुद्धिजीवी आ गये हैं, जो पहले नहीं होते थे। भाजपा का प्रधानमंत्री बनाने की जल्दबाजी उन्हें भी नहीं है। राजनीति पर जिस अनुपात में नियंत्रण होने से एक खास प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति पैदा की जा सकती है और आर्थिक राष्ट्रवाद की हरकतों को रोका जा सकता है, उस अनुपात की राजनैतिक शक्ति हासिल करना इस वक्त संघ परिवार का लक्ष्य होगा। अगर भाजपा की एकदलीय सरकार लंबे समय तक केन्द्र में नहीं बनती है तो हर्ज नहीं है। बनना आसान भी नहीं है। केन्द्र में भाजपा की सरकार एकाएक बन जाने से कई तरह की तीव्र प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। अतः कांग्रेस-भाजपा के सहअस्तित्व की संक्रमणकालीन रणनीति ज्यादा फायदेमंद हो सकती है। इस संक्रमण काल में एक कमजोर और बूढ़ी कांग्रेस कुछ गैरकांग्रेसी समूहों का कलेजा खाकर ही जीवित रह सकती है। गैरकांग्रेसी समूहों को अपनी आर्थिक नीतियों में फँसाने के लिए वह अपनी कमजोरी और बूढ़ेपन का बहाना भी कर सकती है। (जून , 1993) ■

भारतीयता का भविष्य

सच्चिदानन्द सिन्हा

इकबाल के मशहूर गीत 'सारे जहाँ से अच्छा....' में जो एक समय देश भर में सभी की जबान पर था, इस बात की याद दिलायी गयी है कि यूनान, मिस्र और रोम दुनिया से मिट गये, पर हमारे यहाँ कुछ ऐसा रहा है जिससे हमारी हस्ती नहीं मिटती। वही 'कुछ' भारतीयता है, और अगर हम इसी 'कुछ' का अर्थ निकाल पाये और उसकी मौजूदा स्थिति का लेखा-जोखा कर पाये तो यह भी जान लेंगे कि भारतीयता का भविष्य क्या है।

इसमें संदेह नहीं कि मिस्र की उपलब्धियाँ सिंचाई व्यवस्था तथा स्थापत्य में अद्वितीय थीं। ईसा के तीन हजार वर्ष पूर्व मिस्र ने स्थापत्य, शौर्य और शृंगार के जो प्रतिमान स्थापित किये थे, वे आज भी आश्चर्य में डालने वाले हैं। इसी तरह यूनान ने मूर्तिकला और चित्रकला में ऐसी ऊँचाई हासिल की, जहाँ पहुँचना आज भी कलाकारों को दुर्गम

लगता है; यूनान की सभ्यता और संस्कृति रेनासां (यूरोपीय पुनर्जागरण काल) से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में यूरोपीय कला के लिए प्रेरणा का स्रोत रही है। इतना ही नहीं, विज्ञान, गणित, दर्शन, राजनीति शास्त्र, इतिहास लेखन आदि की नींव इस सभ्यता ने डाली लेकिन जिस कारण सुदूर एशिया और अफ्रीका तक यूनानी अथवा हेलेनिक सभ्यता का प्रभाव फैला, वह थी सिकंदर की बहादुरी तथा सैनिक दक्षता। सिकंदर ने अल्पकाल में ही मिस्र और रोम के विशाल साम्राज्यों को रौंद डाला और भारत तक आ गया। रोम की उपलब्धि अलग किस्म की थी। और वह अपने ढंग की अनोखी थी। अपने समय के हिसाब से नगर-निर्माण योजना, जल निकासी की योजना, सड़क-निर्माण तथा भव्य एंफीथियेटरों का निर्माण कर रोमनों ने अपूर्व इंजीनियरी दक्षता का परिचय दिया। पर सबसे बढ़ कर थी उनकी फौज 'लेजनों' की संगठित और अनुशासित शक्ति, जिसके सामने लगभग पाँच सौ वर्ष तक कोई भी शक्ति टिक नहीं सकी। एक अपवाद हानिबाल का जरूर था। लेकिन अंततोगत्वा अपनी रणनीति से रोमनों ने उसे भी परास्त किया। इनके अलावा जिस चीज की अमिट छाप उन्होंने यूरोपीय सभ्यता पर और यूरोपीय साम्राज्य के माध्यम से दुनिया भर पर छोड़ी, वह थी उनकी कानून व्यवस्था जो यूरोप के सभी परवर्ती कानूनों का आधार रही है।

लेकिन मिस्र, यूनान और रोम तीनों में ही उनकी प्राचीन सभ्यताओं की निरंतरता कायम नहीं रह पायी। मिस्र पहले हेलेनिक (यूनानी) बना, फिर रोमन और बाद में अरब इस्मामी और यूरोपीय सभ्यता के रंग में रंग गया। यही हाल यूनान का भी हुआ, जो अब पश्चिमी यूपोप की नयी संस्कृति की जूठन पर और उसकी मदद से जी रहा है। रोम भी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का एक पिछड़ा हुआ हिस्सा बन कर रह गया। उसका जो भी अपना और महान था, वह अब पुरातत्ववेत्ताओं और इतिहासकारों की विवेचना का विषय भर बन कर रह गया है। प्राचीन सभ्यताओं वाले देशों में भारत ही अकेला है, जिसके जीवन पर आज भी उसकी पुरानी संस्कृति की छाप मौजूद है। शायद आज भी भारत के गाँवों में दो हजार वर्ष पूर्व वर्णित जीवन पद्धति के कुछ जीवित रूप दिख जायेंगे। आज भी भारतीय मनीषा के गहरे तल में उसके प्राचीन संस्कार किसी न किसी रूप में बैठे हैं। इस तरह भारत में एक सांस्कृतिक निरंतरता बनी रही है, जिससे उसका प्राचीन अस्तित्त्व-बोध आज भी कायम है।

इस निरंतरता के दो कारण रहे हैं। एक तो भारत में अनेक मानव समुदायों के विशेष तरह के पारस्परिक संबंध और दूसरा उन आदर्शों का चुनाव, जो भारतीय जीवन को संचालित करते रहे हैं। पहले कारण में विभिन्न कबायली समूहों के आपसी संबंध शामिल हैं। भारत में यह संबंध यूरोप तथा दुनिया के अन्य कई भागों से भिन्न था। यूरोप में जब एक कबायली समूह एक जगह से दूसरी जगह गया तो उसने वहाँ के प्राचीन वाशिंदों को या तो वहाँ से भगा दिया या खत्म कर दिया। इसके विपरीत भारत में हजारों बरस से विभिन्न कबायली समूह आते रहे और पुराने कबीलों के साथ अकसर एक खास तरह की जातीय व्यवस्था कायम कर बस गये। इस क्रम में कोल, द्रविड़, आर्य, शक, हूण, पठान, तुर्क, अरब, सिथियन आदि अनेक प्रजातियों के कबीले भारत आये और भारत की जीवन धारा में मिल कर विलीन हो गये। इससे एक-दूसरे के रीति-रिवाजों, पूजा-पाठ, देवी देवताओं आदि को बरदाश्त करने और समझने की परंपरा बनी। यही वह सामाजिक आधार है जिस पर भारतीय विश्वासों की पारस्परिक सहिष्णुता कायम हुई है। आगे चलकर इससे वह परंपरा बनी, जिसमें धार्मिक मतभेदों को खत्म करने के लिए तलवार के बजाय विवादों और शास्त्रार्थों का सहारा लिया जाने लगा। भारतीयता का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसी सहन करने और जज़्ब करने की शक्ति से भारत, भारत बना रहा और हर नये मानव समूह के आने पर रंग बदल कर वैसा नहीं बन गया, जैसे मिस्र या रोम बन गये।

भारत की अस्मिता बनाये रखने में दूसरी महत्वपूर्ण चीज थी, जीवन के आदर्शों का चुनाव। भारतीय आदर्शों में बाहरी वस्तुओं के बजाय आंतरिक उपलब्धियों पर अधिक जोर दिया गया। इससे भारत के दर्शन और धर्म में संतोष, आत्म नियंत्रण, निःस्वार्थ सेवा, अपरिग्रह आदि केन्द्रीय मूल्य बन गये। परोपकार को तो सभी धर्मों का सार ही मान लिया गया था। इस तरह के विचार उपनिषदों, पुराणों तथा बौद्ध, जैन आदि सभी धर्मों में प्रधान हैं। कालान्तर में इस्लाम के आने के बाद जब इस्लाम का भारतीयकरण हुआ और भारतीय धर्मों तथा इस्लाम के पारस्परिक प्रभाव से और उनके आपसी विभेदों को मिटाती हुई संत कवियों की एक परंपरा चली तो उसमें भी इन्हीं तत्वों को प्रधानता मिली। उदाहरण के लिए सूफी संत फरीद (13वीं सदी) की इन पंक्तियों में इसी भावना की अभिव्यक्ति होती है।

'रुक्खी-सुक्खी खाय के ठंढा पानी पीव।
फरीदा देखि परायी चोपड़ी न तरसावे जीव।'

या

'फरीदा काले मैड़े कापड़े, काला मैला वेसु।
गुनही भरिया मैं फिरा, लोकु कहै दरवेसु।'

इसी तरह दूसरे सूफी संत दाता गंजबक्श (11वीं सदी) कहते हैं— ए मुरीदों! त्याग और परोपकार ही फकीरी की कुंजी है। दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए कष्ट उठाना और दूसरों के लाभ के लिए अपने नुकसान की ओर ध्यान न जाना चाहिए, स्वार्थ को त्याग देना ही धर्म है।

किसी देश के वास्तविक चरित्र और उसकी प्रेरक शक्ति की अभिव्यक्ति उसके आदर्श पुरुषों (कल्चर हीरो) के चुनाव में होती है। मिस्र की महानता उसके पुरोहित सम्राटों (फारुआह) की उपलब्धियों में देखी जाती है। यूनान की ख्याति सिकंदर महान की उपलब्धियों में देखी जाती है। रोम की गरिमा की परिणति जूलियस सीजर के विजय अभियानों में होती है। इन सबकी उपलब्धियाँ युद्ध-क्षेत्र में विजय या संपदा को बढ़ाने में रही है। इन दोनों तरह की उपलब्धियाँ बाहरी स्थितियों पर निर्भर करती हैं और इसलिए अस्थायी है। देश की सैनिक शक्ति कमजोर पड़ सकती है और विजेता विजित और पराजित हो सकता है। कई पीढ़ियों से अर्जित संपत्ति एकाएक नष्ट हो सकती है और आज की स्थापत्य की महान उपलब्धियाँ कल की नुमाइश भर रह जा सकती हैं— जैसे मिस्र के पिरामिड या चीन की दीवार। इसलिए इन सभ्यताओं की गरिमा कुछ ही काल में पुच्छल तारे की तरह आयीं, पर एक बार शक्ति का पराभव हुआ तो उतनी ही जल्दी बिना कोई विरासत छोड़े विलीन भी हो गईं, यूनान और रोम की सभ्यताओं में जो उदात्त तत्त्व थे, उनकी रक्षा या अभिव्यक्ति बाद में ईसाई धर्म के माध्यम से ही हो पायी।

भारत की स्थिति बिलकुल अलग थी। हमारा आदर्श पुरुष कोई योद्धा नहीं रहा। शिवि, दधीचि, बुद्ध और अशोक रहे। शिवि और दधीचि ने अपना मांस हाड़ देकर भी शरणागतों की रक्षा की और बुद्ध से संपूर्ण जीव जगत के प्रति दया का पाठ सिखाया। अशोक ने हथियारों का परित्याग कर प्रेम और अहिंसा के बल पर संसार का हृदय जीतने में अपना जीवन लगा दिया। अगर हम अपने धर्म शास्त्रों पर नजर डालें तो देवताओं का राजा इन्द्र एक कामुक, कपटी और कायर व्यक्ति के रूप में उभरता है, जो सदा अपने सिंहासन के लिए शंकित रहता है और असुरों के आक्रमण के भय से बार-बार विष्णु और शिव की शरण में जाता है। पुराणों को पढ़ने से जो एक स्पष्ट छाप मन पर पड़ती है, वह यह कि युद्ध की क्षमता मूलतः आसुरी है और देवता तथा मनुष्य इसमें बार-बार पराजित होते हैं। भारतीय मानस पर इंद्र स्वर्गीय सुख की कामना और उन्माद के अवश्यंभावी परिणामों के प्रतीक के रूप में चित्रित होता है। इसी लिए भारतीय धर्मों में स्वर्ग की प्राप्ति कभी सर्वोच्च लक्ष्य नहीं रहा, क्योंकि कामनाओं का दास इन्द्र और स्वर्ग, कामनाओं के अवांछित पर अनिवार्य फलों के भोगी बन जाते हैं। मोक्ष की भारतीय कल्पना सभी इच्छाओं से परे जाने की रही है। यही भारतीय चेतना का केन्द्र बिंदु रहा है, चाहे हम इसे ईश्वरवादी परम्परा में देखें या बौद्ध धर्म जैसी अनीश्वरवादी परम्परा में।

जड़ वस्तुओं के प्रति यह दृष्टि हम भारतीय कलाओं में भी पाते हैं। सुप्रसिद्ध पश्चिमी कला दार्शनिक बोरिंगर ने कला-अभिव्यक्ति को दो ध्रुवों में बाँटते हुए भारतीय कला को अनुकृति के विपरीत उस ध्रुव का विशिष्ट नमूना माना, जो सांसारिक कोलाहलों से दूर अमूर्तन की ओर जाता है। भारतीय कला में चाहे हम मूर्तिकला लें, भित्तिचित्र लें, या मिनियेचर (लघु चित्र), सभी में हम यही रुझान पाते हैं, प्राचीन मूर्तिकला और अजंता के भित्तिचित्रों में आदर्शों के चित्रण का यह रुझान तो दिखाई देता ही है, बाद की राजपूत, पहाड़ी और मुगल कला के मिनियेचर में भी हम यही पाते हैं। कोई भी व्यक्ति जो मुगलकालीन कलाकृतियों की तुलना इसी काल के पश्चिम के पोस्ट रेनैसां (उत्तर-पुनर्जागरण काल) के चित्रों से करेगा, दोनों के बीच स्तंभित करने वाले फर्क से प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सकेगा। जहाँ रेनैसां कला अभिव्यक्ति के तरह-तरह के 'कोड' (संकेत) इसलिए विकसित करती हैं, ताकि चित्रों को देखने का भ्रम पैदा हो, वह राजपूत और मुगल कला रेखाओं और रंगों की सरलीकरण की ओर ले जाते हैं जहाँ रंग अपनी शुद्धता में दर्शकों पर एक स्वतंत्र स्थिति की अपनी छाप छोड़ सकें। यह भारतीय कला अभिव्यक्ति यहाँ के लोगों की संपूर्ण चेतना से जुड़ी हुई है।

जिस चेतना की अभिव्यक्ति दर्शन, धर्म और कला में हो, उसकी जीवन में नहीं हो, ऐसा हो नहीं सकता। हम इस चेतना की अभिव्यक्ति सामाजिक जीवन की बनावट और जीवन के प्रति आम लोगों की दृष्टि में भी देख सकते हैं, सामाजिक जीवन के गठन में इस दृष्टि का असर यह हुआ है कि भारत मूलतः गाँवों का देश रहा। जब लोगों की जरूरतें सीमित हों और उनमें नयी वस्तुओं को पाने की ललक नहीं हो तो व्यापार पर भी सीमा लग जाती है। जब व्यापार न्यूनतम हो और लोग अपनी जरूरत की चीजें स्थानीय रूप से पैदा करने लगें, तो नगरों का विकास कठिन हो जाता है। ऐसा नहीं कि भारत में नगर हुए नहीं। पराक्रम राजाओं की

राजधानी में, महत्वपूर्ण धर्मस्थलों और विश्वविद्यालयों के इर्द-गिर्द नगरों का विकास हुआ। लेकिन इनका देश के जीवन पर वह महत्त्व कभी नहीं रहा, जो रोम, पेरिस या लंदन का अपने देशों में था। एक दिलचस्प बात यह है कि परंपरा के अनुसार भारत में भव्य नगर निर्माण भी दानवों और राक्षसों के साथ जुड़ा। रावण की सोने की लंका या स्वर्ग तक सीढ़ी लगाने की आकांक्षा तथा मय दानव द्वारा इन्द्रप्रस्थ का निर्माण, जिससे जल, स्थल और स्थल, जल का भय पैदा करते थे, दानवों की चमत्कारी बुद्धि के परिणाम माने जाते थे।

आवश्यकताओं के सीमित होने का एक और महत्वपूर्ण असर हुआ, हालाँकि भारत में जाति-व्यवस्था के कारण एक खास तरह की विषमता रही और अस्पृश्यों के साथ तो सदियों से अमानुषिक व्यवहार होता रहा, लेकिन आर्थिक दृष्टि से वैसी विषमता कभी नहीं रही, जैसी हम पश्चिमी समाज में प्राचीन काल से पाते हैं और आधुनिक काल में उससे भी बढ़कर भारत में पाते हैं। व्यापार और आधुनिक उद्योगों के विकास से संपत्ति का अत्यधिक केन्द्रीकरण होता है और इससे आर्थिक विषमता भी बढ़ती है। मूलतः ग्रामीण संस्कृति होने के कारण हमारे यहाँ कोई राष्ट्रव्यापी केन्द्रित व्यवस्था नहीं बन पायी। केन्द्रीकरण में महानगरों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जो आक्टोपस' (अष्टभुज) की तरह सारे समाज को अपने चंगुल में दबोचे रहते हैं। सिर्फ मुगलकाल में जो अर्ध फौजी शासन था, हम राजधानी के फैलते प्रभाव को देख सकते हैं। लेकिन यह अल्पकालिक था। चूँकि राज्य विकेन्द्रित था और नगरों का प्रभाव सीमित था, ज्ञान-विज्ञान के उत्स गाँव या ऋषियों के आश्रम ही थे, इससे सत्ता, संपत्ति और ज्ञान के केन्द्र अलग-अलग रहे और प्राचीन भारत उस आधुनिक बीमारी से बचा रहा, जहाँ सत्ता, संपत्ति और सूचना ('ज्ञान' शब्द इस संदर्भ में अनुचित है) एक जगह केन्द्रित हो जाते हैं। आधुनिक सभ्यता में ये इस हद तक एक दूसरे से जुड़ गए हैं कि हैरोल्ड लासवेल जैसे राजनीति शास्त्री ने यह सिद्धांत ही प्रतिपादित कर दिया है कि सत्ता से सुविधाओं को प्राप्त करना है। इसके विपरीत पुराणों और जातक कथाओं में वर्णित स्थितियों से ऐसा नहीं लगता कि सचमुच सामाजिक संबंध इन आदर्शों पर पूरी तरह आधारित रहे हों, लेकिन इस तरह सत्ता, संपत्ति और प्रतिष्ठा के विभाजन का तत्व जन-मानस में होना स्वयं इनके केन्द्रीकरण के विपरीत माहौल बनाने में सहायक हो सकता है।

अगर हम ऊपर कही गई बातों पर विचार करेंगे तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि भारतीयता, शारीरिक-भौतिक उपलब्धियों की जगह, जो हमारे विकास-क्रम में हमारे बंधु, पशुओं के करीब लाती हैं, उन आध्यात्मिक उपलब्धियों की तरफ का रुझान है, जो हमें पशुओं से अलग करता है। अगर आप धार्मिक प्रवृत्ति के हैं तो इसका अर्थ निवृत्ति मार्ग मान सकते हैं, अगर धर्म में रुचि नहीं है तो यह ज्ञान-विज्ञान, कला, संगीत आदि की तलाश हो सकती है। दोनों ही हालत में इससे उपभोक्तावादी और हथियारवादी संस्कृति के विपरीत हमें चेतना के जीवन की तरफ बढ़ने की ओर प्रेरणा मिलती है। जीवित रहने के लिए भौतिक उपकरणों का होना अनिवार्य है, लेकिन भौतिक उपकरणों को ही जीवन का केन्द्र मान पशुवत बन जाना है। यही भारतीयता का मूल पाठ रहा है। इस दृष्टि से देश में उपभोक्ता संस्कृति की ओर बढ़ रहा रुझान और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की लाठी संस्कृति या शिव सेना की त्रिशूली संस्कृति भारतीयता के आदर्शों के एकदम विपरीत है, उनकी विरोधी है।

भारतीयता क्या है, इसकी पहचान होने से हम उन परिस्थितियों का अनुमान लगा सकते हैं, जिनमें भारतीयता जीवित रह सकती है या खत्म हो सकती है। भारतीयता उपभोक्तावादी संस्कृति के विपरीत सरल स्वस्थ जीवन की आकांक्षा है। अगर यह हथियारी होड़ के विपरीत शांति और बंधुत्त्व का संदेश है तो इसका भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि यह किस हद तक उपभोक्तावादी संस्कृति और हथियारों की होड़ के विश्वव्यापी प्रभावों से अपने को मुक्त रख सकती है।

आजादी के बाद से भारत जिस राह पर चल रहा है, वह उसे इन दोनों विजातीय प्रभावों के गिरफ्त में ला रही है। यह राह न केवल भारतीयता के विपरीत है, बल्कि आजादी के आंदोलनकाल में देश में जो स्वदेशी और स्वावलम्बन का संकल्प बना था, उसे भी खंडित कर रही है, भारतीयता के मूल तत्त्व तो दूर, अब तो स्वभाषा को भी, जो किसी भी स्वतंत्र राष्ट्र की प्रतिष्ठा का प्रतीक है, दूसरे दरजे पर रख दिया गया है, अभी भी अंग्रेजी राज-काज और शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च गौरव के स्थान पर है। राष्ट्रीय भाषाएँ आज भी उपेक्षित हैं। इससे बढ़ कर शर्मनाक बात क्या हो सकती है कि भारतीय तकनीकी संस्थान जैसी शिक्षण संस्थाओं में राष्ट्रभाषा में लिखे गए शोधपत्रों को मान्यता नहीं मिलती। लेकिन अगर भाषा बदल भी जाये तो इन संस्थाओं में प्रशिक्षण का ढाँचा और उद्देश्य दोनों ऐसे हैं जिन्हें देश परिवेश या उसकी असली समस्याओं से कुछ लेना-देना नहीं। इसी का नतीजा है कि इनमें प्रशिक्षित तकनीकी

विशेषज्ञ देश में अपने को बेकार पाते हैं और बड़ी संख्या में विदेशों में या देश की गैर तकनीकी व्यवस्था में नौकरी करते हैं।

इसी तरह विकास के क्षेत्र में पश्चिमी देशों का अंधानुकरण बिना यह सोचे समझे हो रहा है कि यह हमारे लिए उपयोगी है या गलत। यह दृष्टि उस उपभोक्तावादी संस्कृति में निहित है जो पश्चिम द्वारा प्रचारित हर उपभोग की वस्तु को आवश्यक मानने लगती है और अपने देश में उपलब्ध बेहतर वस्तुओं को घटिया। चूँकि ऐसी वस्तुएँ या तो पश्चिम से आयातित होती हैं या पश्चिम आयातित तकनीकी और मशीनों से निर्मित होती हैं, हमारी निर्भरता पश्चिमी देशों पर बढ़ती जा रही है। उपभोक्तावादी संस्कृति की जकड़ इतनी जबरदस्त होती है कि हम धीरे-धीरे उपयोगी तथा अनुपयोगी, स्वास्थ्यप्रद तथा जहरीली वस्तुओं में फर्क करने का विवेक खोते चले जाते हैं। और बाहर से आयातित जहरों के आदी हो जाते हैं।

एक उदाहरण सिगरेट है। सिगरेट जहर है, लेकिन लेटेस्टफैशन है : इसलिए हम इसकी आदत जरूर डालेंगे। टी.वी. से आँखें खराब होती हैं और छोटे बच्चे गँवार हो जाते हैं, लेकिन हम घर में टी.वी. जरूर रखेंगे क्योंकि यह भी लेटेस्ट है। आधुनिक ढंग के औद्योगिक विकास से प्रदूषण फैलता है और देश में बेरोजगारी फैलती है, लेकिन हम ऐसे ही उद्योग खड़ा करेंगे क्योंकि हमारी आयातित लतें इनके बिना पूरी नहीं हो सकती। हम ऐसी बहुमंजिली इमारतें खड़ी करेंगे जिनमें रोशनी और हवा प्रवेश नहीं पा सकें और फिर भारी खर्च कर रोशनी और हवा के लिए बिजली के बल्ब और पंखे लगायेंगे। ऐसा इसलिए क्योंकि यूरोप की जलवायु में खुले घर, रोशनी और धूप के बजाय ठंड को न्योतते हैं और इसलिए वहाँ के लोग ऐसे घर बनाने को मजबूर हैं, जो प्रकृति को बाहर रख सकें। अगर अमेरिका में पहनावे में क्रांति नहीं हुई होती और हिप्पियों का प्रभाव नहीं होता तो हमारे संपन्न लोग अभी भी गरमियों में थ्री पीस वूलेन सूट पहन कर रहते। लेकिन उसकी जगह अब जींस और स्टोनवाश ले रहे हैं। जो चीज कायम है, वह है हमारी उधार मानसिकता।

इसी तरह का अंधानुकरण हथियारों को भी जमा करने में हो रहा है। हम जानते हैं कि जो हमें हथियार देते हैं, वे अपने सबसे अच्छे हथियार हमें नहीं देते और इन दिये गये हथियारों की कमजोरियाँ भी जानते हैं; इसलिए कभी भी हम युद्ध में इन दाताओं का मुकाबला नहीं कर सकते और न इनकी मरजी के बगैर अपने कमजोर पड़ोसियों से भी कोई निर्णायक लड़ाई लड़ सकते हैं। फिर भी हम उन बच्चों की तरह, जिनमें हर नये खिलौने के प्रति ललक होती है, नये हथियारों के लिए बेचैन रहते हैं। इनकी खरीदगी में हम कर्ज में इतना डूबते जाते हैं कि वह आजादी जिसकी रक्षा हथियारों से करना चाहते हैं, पहले गिरवी पड़ जाती है।

यह सब नतीजे हैं, अपनी अस्मिता न पहचानने के, अगर हमने अपनी अस्मिता की तलाश की होती और उस भारतीयता को समझने की कोशिश करते जिसने हमें यूनान, रोम और मिस्र के हश्र से बचाया है तो हम अपनी समस्याओं का कोई दूसरा ही समाधान ढूँढ़ते।

प्रश्न है, क्या हम अपने विनाश के इतने करीब पहुँच गए हैं कि बचने का कोई उपाय नहीं? अगर हम वर्तमान, ढंग के विकास के रास्ते पर चलते रहे तो इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारा रोग असाध्य हो जाएगा, हम पश्चिमी दुनिया के ढंग की दसवें या बीसवें दरजे (पहला, दूसरा या तीसरा दरजा आदि की बात हम नहीं सोच सकते) की एक सभ्यता बन कर रह जायेंगे। समय के साथ हमारे देश में कुछ और महानगर खड़े हो जायेंगे जिनमें झुग्गियों में रहने वालों का अनुपात उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ 90-95 प्रतिशत हो जाएगा और गाँव बिखरे बंजर बन जाएँगे, जिस तरह के दंगे आज जगह-जगह भड़क रहे हैं, उस तरह के दंगे हर गली-कूचे में जीवन के नियमित और स्थायी अंग बन जायेंगे। लोग छोटी से छोटी सुविधाओं के लिए आवारा कुत्तों सा एक-दूसरे पर झपटते रहेंगे (दिल्ली में बसों में जगह पाने के लिए होने वाली मारधाड़ इससे कहीं अधिक भयानक होती है) और इस लूट-खसोट के बीच कहीं दूर-दराज घरों में से टी.वी. और वीडियो देखते हुए 'हम आधुनिक और सम्पन्न हैं' इसका भ्रम पैदा करते रहेंगे। पश्चिमी ढंग के विकास की हमारी यही परिणति 21वीं सदी में पहुँचते-पहुँचते होने वाली है। यह राष्ट्रीय अस्मिता के लोप की राह है।

लेकिन एक दूसरी संभावना भी है, जो वर्तमान निराशा के घोर अंधकार में कौंध जाती है। चूँकि वर्तमान की नियति अधिकतम लोगों को इसके वांछित फलों से बहिष्कृत करने की है, इसका घोर प्रतिरोध भी इसी में निहित है। वे असंख्य लोग जो दिनोंदिन इस विकास के नाम पर पहले प्राप्त सुविधाओं से भी वंचित होते रहे हैं, कब तक बरदाश्त करेंगे? वे लोग, जो विशाल योजनाओं के लिए गाँवों से निष्कासित हो रहे हैं, वे जिनके जीवन के आधार वन नष्ट किए जा रहे हैं, वे ग्रामीण जो भूमिहीन हैं और जिनके लिए रोजगार की कोई व्यवस्था नहीं, इस विकास की व्यर्थता समझे बिना नहीं रह सकते। खुशकिस्मती से ऐसे लोगों का

ही देश में विशाल बहुमत है। अगर इस विकास की असलियत उनकी समझ में आ गई तो फिर वे इसका चक्का जाम करने को कटिबद्ध हो जायेंगे। जहाँ-तहाँ छिटपुट ढंग से लोगों का प्रतिरोध जग रहा है। अगर यह प्रतिरोध व्यापक हुआ तो प्रबुद्ध लोग, जो अब तक अपनी सारी प्रतिभा अंधी गली में ले जाने वाले वर्तमान विकास की प्रशस्ति में लगा रहे हैं, बाहरी संसाधनों की सिकुड़ती सीमाओं के बीच विकल्प के लिए उन्हें फिर विकास के लक्ष्यों पर नए सिरे से विचार करना होगा। ऊर्जा संकट, विश्व युद्ध से संहार की संभावना, पर्यावरण का संकट : इन सबके परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर उन्हें लगेगा कि हमारे पूर्वजों ने जिन मूल्यों के आधार पर लोक जीवन को गठित करने की कोशिश की थी, वे आज सिर्फ हमारे लिए ही नहीं, सारी दुनिया के लिए प्रासंगिक बन गये हैं। अगर यह चेतना पैदा हुई तो भारतीयता ही हमारा और औरों का भी भविष्य होगी।

(लेखक की चर्चित पुस्तक '**भारतीय राष्ट्रीयता एवं सामप्रदायिकता**' का एक अध्याय) ■

यह अध्ययन सिर्फ रपट नहीं, आईना है

यह अध्ययन सिर्फ रपट नहीं, आईना है। झारखण्ड में आदिम जनजातियों, खासकर सौरिया पहाड़िया के ऐतिहासिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को दर्शाती यह अध्ययन पुस्तिका हमें सोचने के लिए मजबूर करती है कि आजादी के 68 वर्षों बाद हम विकास के किस धरातल पर खड़े हैं।

सौरिया पहाड़िया के आठ गांवों के सर्वे से हुआ खुलासा-

मात्र चार प्रतिशत है उनकी साक्षरता दर दस रूपये प्रति व्यक्ति प्रतिदिन की आय से हो रहा है गुजारा पेयजल के लिए तय करना पड़ता है अधिकतम 1 कि0 मी0 और न्यूनतम 1/2 कि0 मी0 की दूरी। वह पेयजल भी पीने के लायक नहीं। दस वर्षों में मनरेगा से अब तक आठ गांवों में कोई कार्य नहीं हो सका। मलेरिया और कालाजार से हो रही है मौतें। स्वास्थ्य की कोई सुविधा नहीं। मातृ एवं शिशु मृत्यु दर अधिक रहने के कारण घट रही है आबादी। दस वर्षों (2001-11) में कुल जनसंख्या 61121 में से 14899 घटी। यानि कि दस वर्षों में 24.38 प्रतिशत की आबादी घट गयी। 71 प्रतिशत घर मिट्टी की दीवाल और खर-पतवार की छावनी वाले हैं। गांव में जाने के लिए कच्ची-पक्की सड़कें नदारत। उबर-खाबड़ चट्टानों से गुजरना पड़ता है उन्हें।

केन्द्र और राज्य की सरकार को इनकी जोखिम भरी जिन्दगी और घटती आबादी क्यों परेशान नहीं करती? मानव सूचनांक के प्रत्येक मानक यहां आकर फेल हो जाते हैं। ऐसे में प्रश्न उठना क्या लाजमी नहीं है कि-

क्या विषमता की खाई का यह दूसरा छोर नहीं है जहां 'विकास' शब्द अपना अर्थ खोता हुआ नजर आता है?

क्या इनके लिए किसी की वाणी में ओज नहीं बचा? किसी की कलम में रोशनाईं नहीं बची कि इनके बारे में कुछ बोलें और लिखें?

क्या इनकी स्थिति में सुधार किये बिना स्मार्ट इण्डिया की कल्पना संभव है?

क्या झारखण्ड के मुख्यमंत्री का यह दावा कि पांच वर्षों में देश का और दस वर्षों में विश्व का यह अबल राज्य हो जायेगा। इनकी मौजूदा स्थिति में बदलाव के बिना क्या संभव है?

तो आयें सोचें, विचारें और इनके हक में अपने-अपने तरीके से कुछ करें। इच्छा हो तो सम्पर्क करें-

बदलाव इंस्टीच्यूट ऑफ ट्रेनिंग एण्ड मैनेजमेंट,
लोकनायक पथ, अरसण्डे, कांके, रांची,
फोन न0-9199059672
ईमेल-*bitm.ranchi@rediffmail.com*

लोकतंत्र, समाजवाद और कल्याणकारी राज्य या स्वराज

महेश विक्रम

(गतांक से आगे)

उसका कहना था, ''अपनी ओर से मैं एक सुविचारित समाजवादी और उत्कट मार्क्सवादी हूँ। मैं समाजवाद को सर्वहारा के प्रतिशोध की कथा के रूप में नहीं लेता और न ही मूलतः आर्थिक न्याय प्राप्त करने के माध्यम के रूप में। मैं इसे प्रमुखतः मशीनी उत्पादन के साथ सामान्य समझ के अनुसार सन्तुलन और केवल सर्वहारा ही नहीं बल्कि मानव प्रजाति की एक बहुत छोटी जमात को छोड़ कर बाकी सभी की प्रसन्नता बढ़ाने के रूप में देखता हूँ। यदि यह किसी हिंसा के बिना संभव नहीं है तो इसके लिए इसके प्रवक्ताओं की हिंसा ही उत्तरदायी है। किन्तु मुझे अभी भी आशा है कि इसकी विवेकयुक्त वकालत इसके विरोधियों को उदारमना बना सकती है और परिवर्तन की भयावहता को कम कर सकती है।........................मुझे विश्वास है यदि समाजवादी प्रोपेगेण्डा को कम घृणा और वैमनस्य से संचालित किया गया होता, दूसरों में इसके प्रति द्वेष पैदा करने के बजाय उसे आर्थिक पुनर्गठन की आवश्यकता के रूप में रखा गया होता तो लोगों को इसके लिए तैयार करना आसान होता और शक्ति की आवश्यकता न्यूनतम् होती। केवल प्रतिरक्षा को छोड़कर मैं शक्ति का सहारा लेना ग़लत मानता हूँ, ऐसे कार्य के लिए जिसे प्रतीतीकरण (पर्सुएशन) के द्वारा वैधतापूर्ण ढंग से स्थापित किया जा सकता है। अन्यथा, इसका असफल होना अधिक संभव है, वह संघर्ष खतरनाक और विध्वंसक हो सकता है और एक दूर्धर्ष संघर्ष के बाद मूल उद्येश्य से भटक जाने की भी संभावना होती है। कोई बिल्कुल ही भिन्न व्यवस्था, कदाचित् सैन्य तंत्र स्थापित हो सकता है। अतः मेरी मान्यता है कि सफल समाजवाद के लिए बहुसंख्यक लोगों के बीच इसका शान्तिपूर्ण प्रचार एक अनिवार्य शर्त्त होगी।''

इस प्रकार बर्टेण्ड रसेल ने समाजवाद की स्थापना के लिए लोकतंत्र की आवश्यकता को सर्वोपरि रखते हुए मानवता की स्वतंत्रता को बाधित करने वाली सम्पूर्णतावादी समाजवादी सत्ता को गैरज़रूरी बताया। उसने मार्क्सवादी अर्थ में सर्वहारा और सम्पत्ति धारकों के बीच संघर्ष को अनावश्यक माना जो सम्पत्ति धारकों को अपनी जीवन शैली के नष्ट होने के भय से ग्रस्त होकर कहीं अधिक कठोर प्रतिक्रियात्मक और प्रतिरोधात्मक कार्यवाही के लिए उत्तेजित करता है। पुनः उसने यह भी ध्यान दिलाना चाहा कि समाजवाद के विरोधियों के दिमाग में उसके नास्तिक और आतंकवादी राज्य होने की आशंका भी समायी होती है। जबकि समाजवाद को किसी धर्म से कुछ भी लेना देना नहीं होता। यह एक आर्थिक सिद्धान्त है और एक समाजवादी बिना किसी तार्किक असंगतता के ईसाई, मुसलमान, बौद्ध या ब्रह्मा का उपासक कुछ भी हो सकता है। जहां तक आतंक के राज्य का प्रश्न है तो इतिहास में अनेक आतंक के राज्य होते रहे हैं जिनमें से अधिकांश प्रतिक्रिया की तरफ से ही हुए हैं और जहां समाजवाद उनमें से किसी के प्रति विद्रोह में खड़ा हुआ है यह आशंका व्यक्त की जा सकती है कि वह अपनी पूर्वगामी सत्ता द्वारा किए गए अत्याचारों की प्रतिध्वनि से ग्रस्त रहा है। परन्तु जिन देशों में विचारों और वाणी की स्वतंत्रता कुछ सीमा तक बनी रही है वहां समाजवाद के प्रसार के लिए गंभीरता और धैर्य का प्रदर्शन किया जाना ज़रूरी होगा जिससे वहां की आधी से अधिक जनता उसमें विश्वास करने की स्थिति में हो सके।

बर्टेण्ड रसेल की समझ से लोकतंत्र की चाहे जो भी कमजोरियाँ हों परन्तु केवल इसी के माध्यम से और आम लोगों के इसमें विश्वास की सहायता से ही समाजवाद ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका में सफल हो सकता था। उसके अनुसार जो भी लोकतंत्रीय सरकारों के प्रति सम्मान को कमजोर करता है वह जाने अनजाने साम्यवाद के बजाय फ़ासीवाद को ही बढ़ावा दे रहा होता है।

परन्तु, ध्यान देना होगा कि उदार लोकतांत्रिक समाजवादी सत्ताएँ भी अपने प्रदर्शन और अपेक्षित दिशा की ओर बढ़ने में असफल सिद्ध हुई हैं। वर्तमान की लोकतांत्रिक और समाजवादी दोनों ही प्रणालियाँ पूँजीवादी

शक्तियों का ग्रास बनती गई हैं और समाजों के बीच शत्रुताओं और अनावश्यक असहमतियों का कारण बनी हैं। साथ ही, जॉर्ज बर्नार्ड शॉ और बर्टेण्ड रसेल दोनों ही लोकतंत्र और समाजवाद की असफलता की दशा में फाशीवाद की आशंका व्यक्त कर चुके हैं। इस सन्दर्भ में यह ध्यान में आना भी गलत नहीं होगा कि जो कुछ 20वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में योरोप में अनुभव किया गया वैसा ही कुछ तरीकों और व्यावसायिक कार्यप्रणाली की कतिपय भिन्नताओं के साथ पिछले 90 के दशक से वर्तमान् भारत में भी घटित होते देखा जा सकता है जो यहां फाशिवाद के पैदा होने की संभावना का भी संकेत दे रहा है।

गाँधी ने एक सूत्र दिया कि प्रकृति ने सम्पूर्ण मानवता के जीवन-यापन के लिए पर्याप्त दिया है परन्तु यह चन्द लोगों की भी लिप्सा को संतुष्ट करने के लिए हमेशा अपर्याप्त रहा है। उन्होंने सभी व्यवहारों और प्रणालियों के मूल्याँकन का आधार समाज के सबसे कमजोर व्यक्ति को अच्छे या बुरे ढंग से प्रभावित करने वाली स्थितियों को माना। परन्तु, लोकतांत्रिक और समाजवादी प्रणालियों और विश्व की परिवर्तनशील राजनीति और अर्थ व्यवस्था के बारे में अपने काल के महान् बौद्धिकों जॉर्ज बर्नार्ड शॉ और बर्टेण्ड रसेल के जो भी परीक्षण और सूत्र रहे अथवा गाँधी द्वारा सभी के लिए आत्मसंयम और आत्मनियंत्रण के साथ ही शारीरिक श्रम और स्वयंसेवा की अनिवार्यता और सम्पूर्ण मानवता एवं शान्तिपूर्ण संस्कृति के लिए उचित तकनीकि और उपकरणों के चुनाव की सलाह रही हो यह सब कुछ किन्हीं गलत कल्पनाओं और अनावश्यक आदर्शवादिता के कारण असफल हुए हों ऐसा कहना सही नहीं होगा। बल्कि इसे विश्व के प्रमुख देशों द्वारा उनके क्रियान्वयन के लिए स्थापित की गई संस्थाओं और अपनाई गई तकनीकि और उपकरणों के अपने अन्तर्विरोधों और लक्ष्य के साथ विसंगति के रूप में ही समझा जा सकता है, जिसका अनुगमन विश्व के अन्य देश या नवोदित् राष्ट्र भी करते गए या जो प्रमुख देशों द्वारा बिछाए गए पथ पर चलने के लिए विवश रहे।

तो क्या हम निष्कर्ष निकालें कि............

समाजवाद के बिना लोकतंत्र पूँजीवाद को ही पनपाता है जिसमें बाह्य और आन्तरिक उपनिवेशवाद, असमानता, अन्याय, विषमता, शक्तिशाली एवं अमीर व्यक्तियों या लोगों द्वारा ग़रीबों और असहायों के शोषण के साथ ही बहुसंख्यक लोगों को असंवेदनशील ढंग से प्रचलित आर्थिक कार्यकलापों की दृष्टि से अकुशल, अयोग्य, अपात्र एवं अगम्भीर मान लिए जाने तथा पागलपन की हद तक प्रतिद्वन्द्विता एवं ईर्ष्या के अतिरिक्त पर्यावरण को नष्ट करते हुए प्राकृतिक स्रोतों यथा जल, जंगल, जमीन, वन, पहाड़ और खदान का अविवेकपूर्ण दोहन या लूट निहित है।

अन्ततः यह सब कुछ तकनीकि और उपकरणों के चयन और प्रयोग तथा ऐसी संस्थाओं की स्थापना से ही जुड़ा है जो पूँजी के सहायक सिद्ध हुए हैं। उसके हित में ऐसे आर्थिक उपक्रमों को संरक्षण देते रहे हैं जो उन कौशलों को भी उजाड़ देती रही हैं जो आम लोगों के हित में रहे हैं और जिनसे जुड़े रहे समुदायों के जीवनयापन के कोई और विकल्प भी नहीं बनते या होते। जो किसानों के पलायन और आत्महत्याओं और जंगलों और पहाड़ों से लोगों के विस्थापन का कारण बने हैं, जो गुलाम सेवकों की नई फ़ौज तैयार करते हैं, और जो पर्यावरण को अपूर्णनीय रूप से नष्ट करने में लगे हैं। लगभग सभी विकासशील और कमजोर देशों ने यही प्रणाली अपनाई हुई है जिसके बड़े उदाहरण भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश तथा कई अन्य एशियाई, लातिनी अमेरिकी और अफ्रिकाई देश हैं। यद्यपि सं.रा.अ. और पश्चिमी योरोप के विकसित देश पुराने या नए आर्थिक उपनिवेशों तथा औद्योगिक और बाजारी स्रोतों एवं प्रचलिर्त आिर्थक प्रणालियों के लिए उपयुक्त श्रेष्ठ तकनीकि के बल पर अपनी अपेक्षाकृत कम आबादी में इस पूँजीवादी आर्थिकी को चलाते रहने में सफल दिखाई देते रहे हैं, तथापि यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं अमेरिका जैसा मजबूत देश भी अपने यहां बड़े व्यवसायों और कॉर्पोरेट के विकास के समय से अनेक हिचकियाँ लेता रहा है। 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में नवोदित ट्रस्ट या कॉर्पोरेट के विरुद्ध चले कृषक और पापुलिस्ट आन्दोलन, नगरीय जीवन में व्याप्त विसंगतियों और दुर्व्यवस्थाओं को ठीक करने के लिए 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में चलाए गए विभिन्न स्तरीय एवं बहुआयामी प्रगतिवादी आन्दोलन, दोनों विश्वयुद्धों के बीच आई महान् विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी से निपटने के लिए अपनाया गया 'नया कार्यक्रम' या 'न्यू डील', और अभी 21वीं शताब्दी में हाल में पैदा हुए बड़े आर्थिक संकट को इस सन्दर्भ में अनदेखा नहीं किया जा सकता भले ही अपने बड़े संसाधनों के बल पर अपनी अपेक्षाकृत् कम जनसंख्या को सुरक्षित और संतुष्ट रखने में वह सफल होता रहा हो। यहां योरोपीय देशों की नई

आर्थिक बेचैनियों को भी ध्यान में रख लेना गलत नहीं होगा।

दूसरी ओर लोकतंत्र के बिना समाजवाद की स्थापना के प्रयास में सम्पूर्णतावादी तानाशाही, आटोक्रेसी और नेतृत्व वर्ग के अभिजात्यीकरण और मनमानेपन का उदय होता दिखाई दिया है जिसमें मतभिन्नता और प्रतिवाद तथा विचारों और मूल्यों के निर्बाध विकास की सभी गुंजाइशें समाप्त हो जाती हैं और अन्ततः जनता का पुनः वंचन प्रारम्भ हो जाता है।

यहां भी केन्द्रीकृत नियंत्रण के लिए संस्थाओं की स्थापना और पूँजीवादी राजनीतिक आर्थिकी के दबाव और प्रतिद्वन्द्विता में विकास की प्रचलित अवधारणा के अनुरूप तकनीकि और उपकरणों के गलत चुनाव का ही प्रश्न खड़ा होता है। इसके उदाहरण सोवियत संघ, चीन, पूर्वी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया आदि देश रहे हैं। क्योंकि पूँजीवादी साधनों और उपकरणों से किसी समाजवादी समाज का स्वप्न देखना एक भ्रांति ही होगी जो गम्भीर दुष्परिणामों की जनक होगी।

इस प्रकार क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कल्याणकारी राज्य की दिशा में लोकतंत्र और समाजवाद के प्रयोग में अनुपयुक्त उपकरणों और संस्थाओं का चयन प्रमुख कमी रही है।

विकल्पों की खोज :

अतः सच्चे लोकतंत्र और समाजवाद के व्यवहार के लिए उपयुक्त तकनीकि एवं उपकरणों के चयन तथा संस्थाओं की स्थापना का प्रश्न सर्वाधिक महत्व का विषय बन जाता है।

गाँधी से सूत्र लेकर ई.एफ. शुमाकर और राम मनोहर लोहिया ने इस विषय पर गम्भीरता से विचार करते हुए ऐसी माध्यमिक या उपयुक्त तकनीकि के प्रयोग की वकालत की जिसमें अधिक से अधिक मानव संसाधन को संलग्न किया जा सके और जो अवसरों की स्वाभाविक भागीदारी के साथ सबको लाभ पहुँचाने वाली हो। विशेष रूप से हमारे जैसे देश में भारी मशीनों वाली तकनीकि कुछ बड़े निर्माताओं के बड़े मुनाफ़े के लिए अनेक छोटे छोटे उत्पादकों और निर्माता उद्यमों में संलग्न मानव कौशल को विस्थापित ही करती है। इसी प्रकार भारी बिजली उद्योग और बड़े बांध के निर्माण के साथ ही भारी मशीनों से जंगलों, पहाड़ों, नदियों और जमीन का अविवेकपूर्ण दोहन पर्यावरण को नष्ट करने और बड़े विस्थापन का कारण बनता है। इस प्रकार के विस्थापन का समाधान मुआवजे ़या सरकारी या निजी क्षेत्र में कुछ रोजगारों द्वारा किया जाना संभव नहीं है और इससे गुलाम सेवकों की स्थिति ही पैदा होती है। अतः केवल ऐसी तकनीकि का स्वागत करना ही उचित होगा जो एक समानान्तर क्षैतिज प्रगति और समाजों के सभी जगह सम्पूर्णता के साथ क्रमशः उन्नयन का हेतु बनती है, न कि वह जो कुछ लोगों के व्यक्तिगत् उर्ध्वगामी विकास और कुछ वरदानयुक्त क्षेत्रों में मैनहटन के निर्माण का।

उपर्युक्त अवधारणा के विरुद्ध यह तर्क अक्सर उठाया जाता रहा है कि तकनीकि का विकास कभी रोका नहीं जा सकता और सभ्यता को पीछे नहीं ले जाया जा सकता। इसका एक ही उत्तर पर्याप्त होगा कि आवश्यकता अविष्कार की जननी रही है न कि अविष्कार आवश्यकता का जनक है। जबकि आज के पूँजीवादी युग में मुनाफों की चाहत में सुनियोजित रूप से अविष्कारों के अनुसार आवश्यकताओं का निर्माण किया जा रहा है। अतः क्या यह मानना कभी भी संभव होगा कि मानवीय आकाँक्षाओं और सम्पूर्ण समाज की वास्तविक आवश्यकताओं के अनुसार सहयोगी तकनीकि का अविष्कार और प्रयोग नहीं हो सकता!

हमारे काल के एक बड़े समाजवादी चिन्तक किशन पटनायक इस बात का आग्रह रखते रहे कि विश्व विकल्पहीन नहीं है और यह किसी देश में अपनायी गई प्रणाली के स्वरूप और उद्येश्य पर ही निर्भर करता है कि वह किस दिशा में और किस प्रकार आगे बढ़ना चाहता है (देखिए, विकल्पहीन नहीं है दुनिया)। सोवियत संघ और उसके मित्रों के विघटन में समाजवाद की चाहत में पूँजीवादी तकनीकि का गलत चयन इसका बड़ा कारण और उदाहरण है।

जहां तक लोकतंत्र और समाजवाद के लिए उपयुक्त संस्था का सम्बन्ध है हमें पुनः गाँधी के 'स्वराज' की अवधारणा की ओर देखना होगा जिसका आधार तो ग्राम स्वराज ही है परन्तु जिसे यदि राज्य, जो व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय समाज के हितों और आकाँक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता है, की शक्ति का सहकारी बनाया जा सके तो कदाचित् लोकतंत्र और समाजवाद दोनों की ही विशुद्ध भावना को व्यवहार में उतारा जाना संभव है। ■

सजप कार्यकारिणी में पारित राजनीतिक प्रस्ताव

होशंगाबाद में हुई सजप की पिछली कार्यकारिणी के बाद देश और दुनिया में कई राजनीतिक घटनाएं हुई हैं। इन पर पार्टी अपनी राय और प्रतिक्रिया व्यक्त करना जरूरी हो जाता है।

केंद्र की सत्ताधारी पार्टी भाजपा ने देश में इधर अपने घटते जनाधार को थामने के लिए उन्माद पैदा करने की रणनीति के तहत काम करना तेज कर दिया है। हिन्दुत्व की कट्टरपंथी विचारधारा के तहत देश में सांप्रदायिक उन्माद पैदा करना उनकी इस रणनीति का अहम हिस्सा है। पिछले दिनों सांप्रदायिक उन्माद को देश की जनता द्वारा सीधे तौर पर नकार देने के बाद उन्होंने भावनात्मक देशभक्ति के मुद्दे को हवा देना शुरू कर दिया है। यहां ध्यान देना जरूरी है कि धार्मिक उन्माद के कारण अपराधीकरण तेज रहा है। यह प्रवृत्ति समाज के लिए विघटनकारी साबित हो सकती है। हाल में ही झारखंड में दो मुस्लिम पशु व्यापारियों की आम लोगों द्वारा हत्या की घटना इसका नमूना है।

अपने वादे और नाकामियों को छुपाने के लिए सरकारें माओवाद और नक्सली हिंसा के नाम पर भी लोगों को गुमराह करती हैं और इस बहाने अपनी जनविरोधी नीतियों का विरोध करने वालों की हत्या भी कर रही हैं। 21 फरवरी को ही ओडिशा के नियमगिरि इलाके में परंपरागत जनजातीय रस्म निभा कर दूसरे गांव से सुबह-सुबह अपने गांव लौट रहे डोंगरिया कोंड आदिवासी समुदाय के एक 20 वर्षीय युवक को न केवल पुलिस ने माओवादी बताकर मार डाला बल्कि उसकी पहचान छुपाकर उसके शव को भी गायब कर रही थी। युवक के स्कूल के सहपाठियों और अध्यापक की गवाही देने के बाद शव को पुलिस ने सौंपा। हालांकि अब तक पुलिसवालों पर कोई कार्रवाई नही हुई है। हम यहां ओडिशा सरकार से मांग करते हैं कि जल्द से जल्द इस हत्याकांड के दोषी पुलिसकर्मियों पर कड़ी कार्रवाई की जाए।

हाल में पेश और पारित किए गए केंद्रीय बजट को सजप महज कृषि समर्थन के नाम पर धोखाधड़ी मानती है। बजट में आज तक कृषि उत्पादन के न्याय संगत कीमत मिलने की कोई व्यवस्था नहीं की गई है। कीमत तय करने की प्रणाली खुद में बहुत गलत है। यह सरकार तय करती है जब अन्य उत्पादों की कीमत उसके उत्पादक तय करते हैं। कृषि उत्पाद की कीमत तय करते वक्त किसानों की कोई राय नहीं ली जाती है। कॉर्पोरेट का दखल इसमें सबसे ज्यादा होता है। कृषि उत्पादों की आयात नीति भी किसान विरोधी और कॉर्पोरेट के पक्ष में है। वैसे भी कृषि उत्पादों की कीमतें अन्य वस्तुओं की कीमतों के मुकाबले सरकार द्वारा बहुत ही कम बढ़ाई जाती है। कॉरपोरेट के पक्ष में दामों को इस तरह से बिगाड़ा जाता है कि किसान की हालत बद से बदतर होती जा रही है। क्योंकि उनको मिलने वाली कीमतें अपेक्षाक्रत लगातार कम होती जा रही है।

कॉर्पोरेट लाभ के लिए काम कर रही सरकार ने पहले उच्च शिक्षा में सरकारी सहायता को खत्म करने की नीति चलाई और इसके तहत उच्च शिक्षा में छात्रवृत्ति कम करने की घोषणा की। इसका कड़ा विरोध होने पर अब वे दूसरे मोर्चे पर काम कर रहे हैं। इसके अलावा उच्च शिक्षा में अपनी दखलंदाजी बनाए रखते हुए भाजपा और उसकी केंद्र सरकार ने कई कारनामे किए हैं। इनमें हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय में पिछले दिनों दलित शोध छात्र रोहित वेमूला की सांस्थानिक हत्या उसकी आत्महत्या के रूप में सामने आई। भाजपा की नीतियों के खिलाफ वहां गठित दलित छात्रों के संगठन को दबाने के लिए केंद्रीय मंत्रियों और सरकार के प्रभाव का इस्तेमाल किया गया। इससे वहां उन छात्रों को तंग करना और उनकी छात्रवृत्ति रोक देने जैसी कार्रवाई की गई। इससे प्रताड़ित होकर रोहित वेमूला ने आत्महत्या जैसा घातक कदम उठाया। इस मामले ने देश भर को उद्वेलित किया और आंदोलन जोर पकड़ने लगा। इस आंदोलन को दबाने के लिए भाजपा और उसकी आनुषांगिक संगठनों ने दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय को निशाना बनाया। वहां संसद हमले में फांसी की सजा पा चुके अफजल गुरु के समर्थन में हो रहे एक कार्यक्रम में छद्म रूप से भारत विरोधी नारे लगवाए गए और फिर इसे समर्थक मीडिया के सहयोग से प्रचारित किया गया। इससे देश में देशभक्ति और देशद्रोह का उन्माद पैदा किया गया। इस काम में भाजपा और केंद्र की सरकार सफल भी हुई है। लेकिन इससे अन्य ताकतें भी सजग हुईं और उनका विरोध तेज हुआ है। सजप इस मुद्दे पर सरकार का विरोध जारी रखेगी और देशभक्ति तथा देशद्राह के मुद्दे पर बहस चलाकर उसे बेनकाब करेगी।

आगामी दिनों में पांच राज्यों में विधानसभा चुनाव की प्रक्रिया चल रही है। सजप पश्चिम बंगाल में दो क्षेत्रों और केरल में तीन क्षेत्रों में अपने उम्मीदवार उतारने जा रही है।

इसके द्वारा हम चुनाव में सक्रिय भागीदारी निभाते हुए तमाम मुख्य धारा के सभी दलों की कॉर्पोरेट समर्थित नीतियों को जनता के समक्ष ले जाने और उसके अंतर्निहित खतरों को उजागर करना चाहते हैं। इसमें हम सजप की वैकल्पिक राजनीति को भी प्रचारित करने की संभावना देखते हैं।

लोकसभा के आगामी चुनाव 2019 में आसन्न हैं। सजप इस चुनाव में राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय पहल करने को प्रतिबद्ध है। इसके तहत पार्टी विभिन्न सहमना और परिवर्तनवादी ताकतों को इकट्ठा कर एक मजबूत प्रतिरोध स्थापित करने की कोशिश करेगी। यह कोशिश वर्तमान की स्थापित दलों की नीतियों को बेनकाब करने की भी होगी और वैकल्पिक राजनीति के प्रसार में मददगार होगी।

पिछले बीस वर्षों से आर्थिक सुधार के नाम पर नवउदारवादी व्यवस्था बनाई जा रही है जिसने समाज में असमानता को बनाए रखने के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कई जुमले भी ईजाद किए हैं। आए दिनों 'समावेशी विकास' का हवाला दिया जाता है, जिसके अनुसार अगर चलें तो सबसे निचले परिवारों की 10 फीसदी आय में 20 फीसदी वृद्धि और सबसे ऊपर के 10 फीसदी परिवारों की आय में 8 गुना (800 फीसदी) वृद्धि समकक्ष लगती है। क्योंकि इस जुमले के माध्यम से होशियारी से बढ़ते हुए आर्थिक और सामाजिक ध्रुवीकरण और 80 फीसदी सापेक्ष दरिद्रीकरण को गुमराह करने में काफी सफलता मिली है। सजप समाज की बढ़ती हुई असमानताओं पर चिंता करते हुए अमीरी रेखा को आय के अनुसार परिभाषित करने की मांग करती है। इसका कारण यह है कि आज की परिस्थिति में गरीबी रेखा अप्रासंगिक हो गई है। यह बात दीगर है कि मौजूदा गरीबी रेखा का निर्धारण 1973-74 में किया गया था और तब से लेकर अब तक प्रति व्यक्ति आय में पांच गुना वृद्धि हो चुकी है। और गरीबी रेखा का मानक दरअसल ज्यों का त्यों है। सजप यह भी मांग करती है कि आयकर के ढांचे को बदला जाए और अधिक अमीरों की आय पर कम से कम 50 फीसदी तक आयकर लगाया जाए। इस बढ़े हुए कर को जन सुविधाओं से वंचित 80 फीसदी आबादी पर खर्च किया जाना चाहिए।

मनरेगा के वर्तमान लक्षित स्वरूप को भी बदलना बहुत आवश्यक है। क्योंकि मनमाने ढंग से मनरेगा के लाभ अपने पसंदीदा परिवारों को दिए जाते हैं। हमारी मांग है कि मनरेगा के अंतर्गत सभी रोजगार चाहने वाले व्यक्तियों को इसका लाभ दिया जाए और सौ दिन की सीमा को हटाकर साल भर के लिए इसकी व्यवस्था की जाए। समाजवादी जन परिषद को मनरेगा के भ्रष्टाचार से लिप्त कार्यान्वयन की चिंता है और हम इसके उन्मूलन की दिशा में जन प्रतिनिधियों पर प्रभावी दबाव बनाने की अपील लोगों से करते हैं। मनरेगा गरीबी खत्म करने का साधन नहीं है, यह मानते हुए हम यह भी मांग करते हैं कि जब तक पूर्ण रोजगार की कोई समुचित व्यवस्था न हो जाए, इसके वर्तमान स्वरूप को न स्वीकार करते हुए इसमें आवश्यक सुधार किया जाए। इसके साथ ही मनरेगा में कृषि मजदूरी के बराबर मजदूरी तय की जाए। खेती-किसानी में लगने वाली मजदूरी के काम को मनरेगा में शामिल किया जाए। किसानों को मजदूर उपलब्ध नहीं हो रहे हैं, इस समस्या को ध्यान में रखते हुए मनरेगा कार्यों की प्राथमिकता सूची में कृषि कार्य को शामिल किया जाए और किसानों को मजदूर उपलब्ध कराने का जिम्मा मनेरगा प्राधिकार को दिया जाए।

सहायक रोजगार के नाम पर गरीब परिवारों को कर्ज के चंगुल में फंसाया जाता है। इस क्षेत्र में पिछले बीस सालों में एक नए प्रकार का साहूकार माइक्रो फाइनेंस के नाम से शामिल हो गया है। ये नीतियां प्रमुखतः दरिद्रीकरण की प्रक्रिया को पुष्ट करने वाली है। हम इसका पुरजोर विरोध करते हैं और मांग करते हैं कि पूर्ण रोजगार की व्यवस्था सार्वजनिक रोजगार के माध्यम से की जाए। हमारी यह भी मांग है कि ऐसे परिवार, जो वृद्धावस्था और बीमारी के कारण अपना जीवन यापन करने में असमर्थ हैं, उनके जीवन यापन के लिए समुचित सामाजिक बीमा की व्यवस्था की जाए।

प्राइवेट स्वास्थ्य बीमा के आधार पर स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध कराने की नीति एक तरफ नुकसानदेह है और दूसरी ओर इससे देश के 80 फीसदी लोग स्वास्थ्य सेवाओं से वंचित हो जाते हैं। यह बात दीगर है कि अमेरिका में प्राइवेट बीमा के नाम से चलने वाली स्वास्थ्य व्यवस्था अन्य विकसित देशों की तुलना में बिल्कुल अव्यवस्थित मानी जाती है, जिसमें बहुत से गरीब परिवार अमेरिका में स्वास्थ्य सेवाओं से वंचित है और निजी अस्पतालों के लालच के कारण कंपनियों के फायदे में बहुत से लोगों को बेमतलब दवाइयां दी जाती है और अनावश्यक जांच किए जाते हैं। कमोबेश यही स्थिति भारत के धनी वर्ग के साथ आज हो रही है। हम स्वास्थ्य सेवाओं को सभी के लिए सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा समुचित और निःशुल्क व्यवस्था की मांग करते हैं। ■

पुस्तक समीक्षा

भाषायी स्वतंत्रता का शंखनाद

यदुनाथ चौबे

श्रीधर बर्वे हिन्दी और भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में लगातार लेखन करते रहे हैं। वे मानते हैं कि जब तक भारतीय भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा नहीं दी जाने लगेगी तब तक आजादी की लड़ाई का लक्ष्य पूरा नहीं होगा। अतः वे भाषायी स्वतंत्रता संग्राम को जारी रखने का आवाह्न करते हैं और बताते हैं कि आम भारतीय के विकास के लिए इस संग्राम को जीतना कितना जरूरी है। श्री बर्वे ने किशन पटनायक के एक अहम् प्रश्न को हमारे सामने रखकर अपनी बातें आगे बढ़ायी हैं। यह प्रश्न है 'क्या अंग्रेजी के माध्यम से औसत भारतीय का विकास हो सकता है?' अपने प्रश्न के साथ श्री पटनायक का उत्तर है, ''मनुष्य भाषा के माध्यम से ही उन्नति करता है। जिसकी भाषा अपंग है, उसका सांस्कृतिक और वैज्ञानिक विकास नहीं हो सकता।'' श्री बर्वे का लेखन इसी सूत्र-वाक्य का विस्तार है और उनके भाषायी स्वतंत्रता संग्राम का घोषणा-पत्र है।

'भाषायी वेदना के परिच्छेद' शीर्षक पुस्तिका भाषायी स्वतंत्रता की चेतना से आप्लावित 18 लेखों का संकलन है। ये 18 लेख गीता के 18 अध्यायों की भाँति हिन्दी और भारतीय भाषाओं के अस्तित्व-संकट पर प्रकाश डालते हैं और उनकी महत्ता को प्रकट करते हैं। श्री बर्वे ने इन लेखों को दो खण्डों में प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त 'अबलौं नसानी अब न नसैहों' शीर्षक टिप्पणी है जिसमें एक प्रकार से सभी लेखों का उपसंहार लिखा गया है। उनका कहना है, ''हमें एहसास ही नहीं हो रहा है कि हमारी भाषाएँ क्रमिक ह्रास के मरहले पर आ चुकी हैं क्योंकि हमने कभी भी यह प्रश्न नहीं किया कि हम अपनी भाषाओं को कैसे बचाएँ और समृद्ध करें। हम यह न भूलें कि जीवित भाषाएँ, जीवित प्राणियों की भाँति विकसित होती हैं।''

इस पुस्तिका के दूसरे खण्ड के पाँच लेखों में एक डॉ. वासुदेवन शेष द्वारा लिखा हुआ है जो चेन्नई के निवासी हैं। एक पत्र जकार्ता की कमला रत्नम् और एक पत्र काठमांडू के देवीप्रसाद रेग्मी का है। इसके बाद फर्निनांड लोम्बो के लम्बे पत्र का एक अंश है तथा 'हिन्दी दिवस पर मिला एक हिन्दी प्रेमी का पत्र' शीर्षक संस्मरण है जो अरुणाचलीय युवक बोलट के साथ बर्वे से हुए संवाद पर आधारित है। पुस्तिका का यह दूसरा खण्ड इंडोनेशिया, नेपाल और फिलीपीन्स की राष्ट्रभाषा नीति की प्रशंसा करता है और बताता है कि कैसे वहाँ भाषायी स्वतंत्रता संग्राम को जीता जा चुका है और ये देश अपनी राष्ट्रभाषा अर्जित कर चुके हैं। श्री बर्वे ने पुस्तक को महात्मागाँधी, राहुल सांकृत्यायन, पुरुषोत्तम दास टंडन और लोहिया की स्मृति को समर्पित किया है। वस्तुतः इन्हीं विचारकों की भाषा संबंधी वैचारिकी से लेखक का चिंतन परिपुष्ट हुआ है।

पुस्तक के प्रथम खण्ड के 13 लेखों के अध्ययन से पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन याद रखना चाहिए कि ''स्वतंत्र चिंतन पराश्रित या आरोपित भाषा में नहीं हो सकता''। श्री बर्वे का कहना है कि 21 फरवरी को विश्व मातृभाषा दिवस मनाया जाता है। उत्तर योगी अरविन्दो को ऐसा संस्कार मिला था कि वे अपनी मातृभाषा बांग्ला बोल भी नहीं पाते थे और जिस दिन स्कूल में नाम लिखाया गया तब से पढ़ाई की समाप्ति तक इंग्लैण्ड में ही रहे। जब वे भारत आये तो वेदों का अध्ययन किया, बांग्ला सीखी और 'सावित्री' जैसी कालजयी रचना का सृजन किया और उद्घोषित किया कि, ''भारत भौगोलिक सीमाओं से बँधा एक राजनीतिक देश नहीं है वरन् जीवन-संस्कृति है। .... वह दुनिया के लिए एक मिशन है।'' एक लोक कवि ने गाया था, ''गोरका खून-मांस सब चूस गयल, करीययी हड्डी चूसत बा।'' मतलब आजादी के रखवालों ने मातृभाषा में शिक्षा देने की परिपाटी को नष्ट कर दिया है। बड़े-बड़े विद्वान बोली-भाषाओं के नाम पर संस्थान चला रहे हैं, चलवा रहे हैं मगर राष्ट्रभाषा हिन्दी की एकरूपता तहस-नहस हो रही है।

बर्वे के अनुसार एशिया में जापान ने ज्ञान-विज्ञान को मातृभाषा में सुलभ करा दिया है। चीन में सब कुछ चीनी में है। हमारे देश के इंडियन नेतृत्व ने हिन्दुस्तानी, हिन्दी और तमाम पूर्वांचलीय भाषाओं की जगह अंग्रेजी को लाद दिया है। जब आत्मसात करने की प्रवृत्ति भोथरा कर दी गयी तब लादी गयी चीज अपनी हो गयी, कहाँ से हिन्दी प्रसरेगी? बोलियाँ, भाषाएँ अपने सहज अधिकार से अलग कर दी गई हैं। हिन्दी पर खतरे मँडरा रहे हैं। वर्ण-व्यवस्था भेद तो है ही वर्गभेद भी हावी है। इसलिए मध्यम वर्ग उच्चवर्ग की

नकल कर रहा है। निचला तबका आरक्षण का लाभ नहीं उठा पा रहा है और स्वभाषा की जगह विदेशी भाषा सीखने के लिए सब कुछ ताख पर रख दे रहा है। अखबारी भाषा का तो कुछ कहिये ही नहीं। नवभारत टाइम्स, एन.बी.टी. हो गया है। साहित्यिक, सामाजिक पत्रिकाओं में भी हिन्दी की शक्ति को कमजोर बनाने वाली दवा बाँटी जा रही है। पुस्तक के बत्तीसवें-तैतीसवें पृष्ठ पर बर्वे जी ने साफ लिख दिया है कि 18-20 भाषाएँ सामने आ जायेंगी तो नये-नये राज्य बन जायेंगे। जो बोली-भाषाएँ हिन्दी की शक्ति थीं उन्हें विखंडित करने की साम्राज्यवादी योजना चल रही है।

कभी कहा जाता था कि भारत में ज्ञान का सृजन होता है, आज स्थिति दूसरी है। राष्ट्रपति को भारत में शीर्षस्थ विश्वविद्यालय नहीं होने की चिंता है किन्तु उन्हें शिक्षा के माध्यम और भारतीय भाषाओं की चिंता नहीं है। वे स्वयं न मातृभाषा में, न ही राष्ट्रभाषा में भाषण देते हैं। आजादी मिली, देश टूटा, भाषा छिन्न-भिन्न हो गई। अंग्रेजी, स्पेनी, पुर्तगाली और फ्रेंच अंतर्राष्ट्रीय भाषा बन गयी हैं और हिन्दी राष्ट्रभाषा भी न बन पायी है। मानसिक गुलामी बनाये रखने का षड्यंत्र सफल दिख रहा है। एक ओर भारतीय भाषाओं पर अंग्रेजी का हमला बोला गया है और दूसरा हमला हिन्दी बनाम भारतीय भाषाओं के रूप में सामने है। पुस्तिका के लेख इस भाषायी संकट के वैज्ञानिक विवेचन में सफल हुए हैं।

राष्ट्रीय अस्मिता की बुनियाद स्वदेशी भाषाएँ हैं, इस पर कुछ कहने की जरूरत नहीं। श्री बर्वे ने मातृभाषा और सृजनात्मकता को लेकर मैकाले का बहुचर्चित कथन उद्धृत किया है। इसी नक्शे-कदम पर वर्तमान सरकारें भी चल रही हैं। सच्चाई है कि देशी सरकारें मैकाले को पीछे छोड़ चुकी हैं— यह भी बर्वे जी को बताना चाहिए। उन्होंने एक लेख में मोदी सरकार को नौकरशाही के आगे अपंग बताया है। रघु ठाकुर के सी-सैट पर दिये गए वक्तव्य के माध्यम से उन्होंने सरकार की अंग्रेजीपरस्ती की आलोचना की है।

कुल मिलाकर पुस्तिका स्वागत योग्य है। इसके माध्यम से भाषायी स्वतंत्रता का शंखनाद करना लेखक का ध्येय है।

पुस्तिका का नाम – भाषायी वेदना के परिच्छेद
लेखक – श्रीधर बर्वे
प्रकाशन वर्ष – 2015
मूल्य – रु0 130/-
प्रकाशक – पार्वती प्रकाशन, इन्दौर

वार्ता यहाँ से प्राप्त करें

- सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिषद, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-221002, फोन- 09415222940
- विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो0 कुसुंडा, जिला धनबाद, झारखण्ड-828116, फोन- 09835131638
- लिंगराज, समता भवन, बरगढ़, ओड़िशा-768028, फोन- 09437056029
- अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्यसाहित्य, कन्हौली, शारदा नगर, पो0 आर.के. आश्रम, बेला, मुजफ्फरपुर-845401
- नवलकिशोर प्रसाद एड, छोटा बरियापुर, वार्डनं0 38, पो0 सिविल कोर्ट, मोतीहारी, बिहार-845401, मो.09430947277
- चन्द्रभूषण चौधरी, भारतीय अस्पताल, कांकर चौक, हजारीबाग रोड, राँची, झारखण्ड-834001, फोन-09006771916
- रामजनम, सर्वोदय साहित्य भण्डार, प्लेटफार्म नं0 4, वाराणसी कैण्ट स्टेशन, वाारणसी-221002, फोन-8765619982
- अमरेन्द्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, पो0 बेतिया, बिहार-845438, फोन-09031670370
- चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पाण्डेहवेली, वाराणसी-221001, फोन-0542-2454257
- दिनेश शर्मा, डी. 68, ए-ब्लॉक, खूँटाडीह, सोनानी, जमशेदपुर, झारखण्ड-831011, फोन-09431703559
- इकबाल अभिमन्यु, कमरा नं02 एक्स. ब्रह्मपुत्र छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067 मो.9013002488
- मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो0 रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार-845106
- रोशनाई प्रकाशन, 212 सी.एल./ए., अशोक मित्र रोड, काँचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, प0 बंगाल-743145, फोन-033-2585024
- फागराम, जनपद सदस्य, ग्रा0 भुमकापुरा, पो0 केसला, वाया इटारसी, जिला होशंगाबाद, म.प्र.-461111 फोन07869717160
- गोपाल राठी, गौशाला परिसर सांडिया रोड, पिपरिया, जिला- होशंगाबाद, म.प्र. फोन-09425608762
- तपन भट्टाचार्य, 201, सुशीला कॉम्प्लेक्स, 130, देवी अहिल्या मार्ग, इन्दौर-452003, फोन-09826011413

दल समाचार

मध्य प्रदेश

14 अप्रैल 2016 को समाजवादी जब परिषद/किसान आदिवासी संगठन केसला, होशंगाबाद जिला स्थित कार्यालय में बाबासाहेब आम्बेडकर जयंती मनायी गयी। इस अवसर पर आमंत्रण पत्र ही बाबासाहेब आम्बेडकर जयंती के बहाने पर्चा जिले के करीब 80-100 गाँव में बाँटा गया। पर्चे में रोहित वेमुला की आत्महत्या, दलित उत्पीड़न और सरकार द्वारा गरीबों, आदिवासियों और दलितों पर अत्याचार के बारे में बताया गया है। कार्यक्रम की शुरुआत में राजीव बामने ने डा. बाबा साहेब आम्बेडकर के जीवन पर प्रकाश डाला। राजीव ने बताया कि होशंगाबाद जिले में सिर्फ एक खास दलित जाति के लोग ही 14 अप्रैल को जुलूस निकालते हैं तो कई साधारण लोग डॉ. बाबा साहेब आम्बेडकर को दलितों का नेता या दलितों का मसीहा मानते हैं। यह सोचना बहुत गलत है क्योंकि डॉ. आम्बेडकर सारे गरीबों का उत्थान चाहते थे। इसके बाद सुश्री तारा बरकड़े जिला पंचायत सदस्य (कांग्रेस) ने कहा कि सुनील भाई के जाने के बाद ही वह समझी कि उनका काम कितना महत्त्वपूर्ण था और सुनील और राजनारायण के पथ पर चलकर ही डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर के सपने पूरे हो सकते हैं। बोरी अभरण्य विस्थापित श्री जयसिंह जो अब बबई ब्लॉक के नया काकड़ी गाँव में रहते हैं ने कहा कि पहले हम लोग जंगल में बूट के निशान देखकर छिप जाते थे लेकिन संगठन/पार्टी से जुड़कर हम लोगों ने सीखा कि कैसे अन्याय के खिलाफ लड़ना चाहिए। प्रो. कश्मीर उप्पल ने कहा कि हमें निराश नहीं होना चाहिए और लड़ाई जारी रखना चाहिए। सुश्री स्मिता ने कहा कि सन् 1937 में अंग्रेज सरकार की प्रिवी काउन्सिल के सदस्यों का वेतन 500 रुपये तक बढ़ाया गया और साथ में उन्हें घर, घोड़ा-गाड़ी दी गई तो डा. बाबा साहेब आम्बेडकर एक मात्र सदस्य थे जिन्होंने इसका विरोध किया थायह कहकर कि जो गरीब लोगों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं उ्हें इतना पैसा नहीं खर्च करना चाहिए। यह आज के विधायक सांसद से भिन्न हैं जो सत्ता में आते ही अपना वेतन और भत्ता बढ़ा लेते हैं। श्री गोपाल राठी जो संचालन कर रहे थे ने कहा कि रोहित बेमुला काण्ड और दलितों के अत्याचार को नजरअन्दाज करने के बाद केन्द्र सरकार और राज्य सरकार आम्बेडकर जयन्ती को धूम-धाम से मना रही है। म.प्र.के महू में डा. बाबासाहेब आम्बेडकर का जन्म-स्थान है, वहाँ कार्यक्रम हो रहा है। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी और राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी दोनों इस मौके पर मध्य प्रदेश आ रहे हैं। लेकिन इससे उनके जाति और धर्म के बारे में संकीर्ण विचार छिप नहीं सकता।

श्री फागराम जो सजप, म.प्र. के महामंत्री हैं ने रोहित वेमुला के बारे में उपस्थित लोगों को जानकारी दी। फागराम ने लोगों को बताया कि नियमगिरि में आदिवासी साथी मन्द काड्राका को सशस्त्र पुलिस ने माओवादी कहकर गोली मार दिया जब वह जंगली जड़ी लेने गये थे। यह दोनों घटनाएँ दिखाती हैं कि दलित चाहे कितने भी ऊँचे स्थान पर अपने मेहनत से पहुँचे (जैसे रोहित वेमुला) वह फिर भी जातिगत अत्याचार से पीड़ित होता है और आदिवासियों पर अपने जंगल में ही चोर/माओवादी इत्यादि कहकर गोली मार देती है। यह सरकार बहुत तरह से दलित आदिवासी, गरीब और महिला विरोधी है। श्री राजेन्द्र गढ़वाल ने बाबा साहेब आम्बेडकर के बारे में स्वरचित गीता गया। श्रीमती बिस्तोरी बहिन ने जंगल और आदिवासी पर एक स्वरचित गीत गाया। करीब 70 लोग जो 15 गाँव से आए थे इस मौके पर उपस्थित थे। अन्त में श्री सुनील और राजनारायण को याद किया गया। बाबा मायाराम, योगेश दिवान, योगेश साहू, मुकेश तिवारी, गुलियबदि, शान्तिबाई मीना, अनिल, समुर लाल मरकोदाना (जिला बैतूल) इत्यादि उपस्थित थे।

स्मिता, राज्य उपाध्यक्ष,
समाजवादी, जनपरिषद, म.प्र.

पश्चिम बंग

समाजवादी जनपरिषद द्वारा तय राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम के तहत दल के पूर्व महामंत्री साथी सुनील की पुण्य तिथि (21 अप्रैल) को सजप की पश्चिम बंग राज्य इकाई ने जलपाईगुड़ी के किरानीपाड़ा स्थित पश्चिम बंग चा श्रमिक यूनियन के दफ्तर पर नियमगिरी क्षेत्र के 20 वर्षीय डोंगरिया कोंड युवा— मंद काड्राका की सुरक्षा बलों द्वारा हत्या के विरोध में धरना दिया गया। मंद काड्राका और उसका एक मित्र स्वलप वृक्ष का रस जिससे शरबत बनता

है, एकत्र करने गए थे। गाँव लौटते वक्त सशस्त्र बलों ने उसे बिना चेतावनी दिए गोली से मार दिया। बाद में सुरक्षा बलों ने दावा किया कि मंद, माओवादी था तथा उसे मुझभेड़ में मारा गया। प्रदर्शन एवं सभा में उड़ीसा सरकार से घटना की न्यायिक जाँच तथा मृतक के आश्रितों को मुआवजा देने की माँग की गई।

साथी अखिल बंधु सरकार, साथी बिल्कन बारा (राज्य समिति के अध्यक्ष तथा महामंत्री), अरुण राय सिंह (महामंत्री, जलपाईगुड़ी जिला समिति), राष्ट्रीय उपाध्यक्ष कमल बनर्जी, राष्ट्रीय सचिव रणजीत राय एवं साथी ललित राय ने अपने भाषण में इस क्रूर फर्जी मुठभेड़ की कड़े शब्दों में निन्दा की तथा उड़ीसा सरकार के साजिशपूर्ण रवैए को पूरी तरह नकार दिया। वक्ताओं ने कहा कि उड़ीसा के कलाहांडी तथा रायगड़ा, जिलों के पहाड़ी अंचल में बसे आदिवासियों ने लोकत्रांत्रिक एवं शांतिपूर्ण तरीके से नियमागिरी पर्वत की रक्षा के लिए सफल आन्दोलन चलाया है। खनन माफिया के रूप में काम कर रही वेदान्त कंपनी, उड़ीसा राज्य प्रशासन व भाड़े के गुंडों की मिली भगत से डोगरिया कोंड आदिवासियों को माओवादी होने का आरोप लगा कर हत्या करवा रहे हैं। वक्ताओं ने कहा कि यह एक बड़े षड़यंत्र का हिस्सा है। सभा के बाद वक्ताओं के साथ अशोक रायबीर, एडवोकेट अकरम हुसैन, दीनबन्धु राय, संभागीय कमीश्नर से मिलकर उड़ीसा के मुख्य मंत्री राज्यपाल के नाम ज्ञापन सौंपा।

कमल बनर्जी, राष्ट्रीय उपाध्यक्ष, स.ज.प.

सजप नेता नुनुलाल मरांडी का निधन

झारखंड प्रदेश सजप के कार्यकारिणी सदस्य नुनुलाल मरांडी के निधन पर दिनांक 20.3.2016 को गिरिडीह कार्यालय में एक शोक सभा का आयोजन किया गया। सभा को संबोधित करते हुए सजप नेता मुज्जफर इमाम ने बताया नुनुलाल मरांडी का निधन दिनांक 8 मार्च 2016 को हो गया। इससे समाज को काफी नुकसान हुआ। वे आदिवासी समाज में गरीबों के मदद के लिए हमेशा आगे रहते थे। पूरे समाज में इन्हें लोग नेता जी के नाम से जानते थे। इनकी अलग पहचान थी। सबसे पहले 1985 में ये सिजुआ धनबाद में के.बी. सहाय के साथ कोलियरी श्रमिक संघ में जुड़े, फिर समता संगठन के साथ जुड़कर कई बैठक प्रशिक्षण में सक्रिय रूप से भागीदारी निभाए एवं भाग लिए।

1987 में अपने गृह जिला गिरिडीह में कोलहनाटांड गाँव में समता संगठन का राष्ट्रीय समिति की बैठक आयोजित करवाए जिसमें देश भर के जाने माने विचारक भाग लिए थे। इसी बैठक में किसानों के साथ काम करने के लिए झारखंड किसान मजदूर संगठन नाम से किसान संगठन का गठन किया गया।

1995 में समाजवादी जनपरिषद का गठन होने के बाद सजप से जुड़ गये। सजप के बैनर से 2005 में गिरिडीह विधान सभा सामान्य सीट से एक मात्र एस.टी. प्रत्याशी के रूप में चुनाव लड़े। पूरा पीरटांड जब हिंसा के आग में जल रहा था तब भी नुनुलाल जी के साथ आप गाँव में घूम सकते थे ये ही इनकी विशेषता थी।

धरणीधर, गिरिडीह

पत्रिका नहीं, वैचारिक आन्दोलन

सामयिक वार्ता

पढ़ें, पढ़ाएं, ग्राहक बनाएं, मित्रों को उपहार दें

द्रोह का दायित्व

मो. क . गांधी

सक्रिय निष्ठा और और सक्रिय द्रोह के मध्य कोई बीच का रास्ता नहीं हुआ करता है। ' यदि किसी व्यक्ति को खुद को मनमुटाव का दोषी न होना साबित करना है तो उसे अपने को सक्रिय रूप से स्नेही साबित करना होगा।'-मरहूम न्यायमूर्ति स्टीफन की इस टिप्पणी में काफ़ी सच्चाई है। लोकतंत्र के इस जमाने में किसी व्यक्ति के प्रति निष्ठा का प्रश्न नहीं उठता। इसके बजाए अब आप संस्थाओं के प्रति निष्ठावान या द्रोही होते हैं। इस प्रकार जब आप आज के जमाने में द्रोह करते हैं तब किसी व्यक्ति का नहीं संस्था का नाश चाह रहे होते हैं। जो मौजूदा राज्य-व्यवस्था को समझ सके हैं वह जानते हैं कि यह कत्तई निष्ठा उत्पन्न करने वाली संस्था नहीं है। वह भ्रष्ट है। लोगों के व्यवहार को निर्धारित करने के लिए उसके द्वारा बनाए गए कई कानून निश्चित तौर पर अमानवीय हैं। राज्य व्यवस्था के प्रशासन की स्थिति बदतर है। अक्सर एक व्यक्ति की इच्छा कानून बन जाया करती है। यह आराम से कहा जा सकता है कि हमारे देश में जितने जिले हैं उतने शासक हैं। ये शासक कलक्टर कहे जाते हैं तथा इन्हें कार्यपालिका और न्यायिक कार्य करने के अधिकार एक साथ मिले हुए हैं। यूँ तो यह माना जाता है कि इनके कार्य कानूनों से संचालित होते हैं जो अपने आप में अत्यधिक दोषपूर्ण होते हैं। अक्सर ये शासक स्वेच्छाचारी होते हैं तथा अपनी सनक के अलावा इन पर किसी का नियंत्रण नहीं होता। अपने परदेशी आकाओं अथवा मालिकों के सिवा वे किसी के हित का प्रतिनिधित्व नहीं करते। इन करीब तीन सौ लोगों ने लगभग गुप्त-सा एक संघ बना लिया है जो दुनिया में सबसे ताकतवर है। यह अपेक्षा की जाती है कि एक न्यूनतम राजस्व वे हासिल करें, इसीलिए जनता से व्यवहार में अक्सर वे अनैतिक हो जाते हैं। सरकार की यह व्यवस्था ऐलानिया असंख्य भारतवासियों के निर्दय शोषण पर आधारित है। गाँवों के मुखिया से लगायत इन क्षत्रपों के निजी सहायकों तक इन्होंने मातहतों का एक वर्ग तैयार कर रखा है, जो अपने विदेशी मालिकों के समक्ष घिघियाता है जबकि जनता के प्रति उनका रोजमर्रा का व्यवहार इतना गैर जिम्मेदाराना और कठोर होता है कि उनका मनोबल गिर जाए तथा एक आतंकी व्यवस्था द्वारा जनता भ्रष्टाचार का प्रतिकार करने के काबिल न रह जाए। भारत सरकार की इस भयानक बुराई की जिन्होंने शिनाख्त कर ली है उनका यह दायित्व है कि वे इसके प्रति द्रोह करने का जोर-शोर से प्रचार करें। ऐसे भ्रष्ट राज्यतंत्र के प्रति भक्ति प्रकट करना एक पाप है, द्रोह एक सद्गुण है।

इन तीन सौ लोगों के आतंक के साये में संत्रस्त तीस करोड़ लोगों का तमाशा निरंकुश शासकों तथा उनके शिकार दोनों के प्रति समान तौर पर मनोबल गिराने वाली बात है। इस व्यवस्था की बुराई को जो समझ चुके हैं उन्हें इसे बिना देर नष्ट करने में लग जाना चाहिए भले ही बिना सन्दर्भ देखने पर इसकी कुछ विशिष्टतायें आकर्षक प्रतीत हों। ऐसे लोगों का यह स्पष्ट दायित्व है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे हर जोखिम उठायें।

परन्तु यह भी साथ-साथ स्पष्ट रहे कि इस व्यवस्था के इन तीन सौ संचालकों और प्रशासकों को नष्ट करने की मंशा यदि यह तीस करोड़ लोग पाल लेते हैं तो वह कायरता होगी। इन प्रशासकों तथा उनके भाड़े के टट्टूओं को खत्म करने की युक्ति निकालना घोर अज्ञान का द्योतक होगा। इसके अलावा यह भी जान लेना चाहिए कि प्रशासकों का यह तबका परिस्थितिजन्य कठपुतलियां हैं। इस व्यवस्था में प्रवेश करने वाला सर्वाधिक निष्कलुष व्यक्ति भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता तथा इस बुराई के दुष्प्रचार का औजार बन जाता है। इसलिए स्वभावतः इस व्याधि का इलाज प्रशासकों के प्रति क्रुद्ध होकर उन्हें चोट पहुंचाकर नहीं होगा अपितु व्यवस्था से समस्त -संभव ऐच्छिक सहयोग वापस लेकर एवं कथित लाभ लेने से इनकार द्वारा अहिंसक असहयोग से होगा। तनिक विचार द्वारा हम पायेंगे कि सिविल नाफ़रमानी असहयोग का अनिवार्य हिस्सा है। आदेशों और फ़रमानों का पालन कर हम किसी भी प्रशासन का सर्वाधिक कारगर ढंग से सहयोग करते हैं। कोई भी अनिष्टकर प्रशासन ऐसी साझेदारी का कत्तई पात्र नहीं होता। इससे वफ़ादारी का मतलब पाप का भागी होना होता है। इसीलिए हर अच्छा व्यक्ति ऐसी बुरी व्यवस्था या प्रशासन का अपनी पूरी आत्मा से प्रतिकार करेगा। किसी बुरे राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों की नाफ़रमानी इसलिए दायित्व बन जाता है। हिंसक नाफ़रमानी का साबका उन लोगों से होता है जिनका स्थान अन्य कोई ले सकता है। हिंसक नाफ़रमानी द्वारा पाप अछूता रह जाता है तथा अक्सर उसे बल मिलता है। जो खुद को इस बुराई से जुदा रखना चाहते हैं उनके लिए अहिंसक यानी सिविल नाफ़रमानी एक मात्र तथा सबसे कारगर इलाज है तथा यह करना उनका फर्ज है।

बतौर इलाज सिविल नाफ़रमानी अब तक आंशिक तौर पर आजमाया हुआ उपाय ही है , यह ही इसका खतरा भी है चूंकि हिंसाग्रस्त वातावरण में ही इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। जब अबाध तानाशाही फैली हुई होती है तब उससे पीड़ित जनता में क्रोध पैदा होता है। पीड़ितों की कमजोरी के कारण यह क्रोध अव्यक्त रहता है किन्तु मामूली बहाने से ही इसका विस्फोट पूर्ण उन्माद के साथ होता है। सिविल नाफ़रमानी इस गैर-अनुशासित, जीवन-नाशक छिपी उर्जा को अचूक सफलता वाली अनुशासित,जीवन-रक्षक उर्जा में रूपान्तरित करने का राम-बाण उपाय है। सफलता के वादे के कारण इस प्रक्रिया में निहित जोखिम उठाना कुछ भी नुकसानदेह नहीं है। उड्डयन के विज्ञान का विकास एक ऊंचा स्तर हासिल कर चुकने के बावजूद जब दुनिया सिविल नाफ़रमानी के इस्तेमाल की आदी हो जाएगी तथा जब इसके सफल प्रयोगों की शृंखला बन चुकी होगी तब इसमें उड्डयन से भी कम जोखिम रह जाएगा।

(यंग इंडिया , 27-3-'30 , पृ. 108)

चंचल मुखर्जी, पाण्डेय हवेली, वाराणसी-221001 द्वारा प्रकाशित एवं दी महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित